।। श्रीमते रामानुजाय नमः।।

वैदिक-वाणी

वर्ष- २५
सन्- २०१३ ई०

श्री पराङ्कुश संस्कृत संस्कृति संरक्षा परिषद्
हुलासगंज, जहानाबाद (बिहार)

अंक- ४
रामानुजाब्द
त्रैमासिक प्रकाशन

दासः सखा वाहनमासनं ध्वजो यस्ते वितानं व्यजनं त्रयीमयः ।
उपस्थितं तेन पुरो गरुत्मता त्वदङ्घ्रिसम्पर्क किणाङ्कशोभिना ।।

अर्थात् जो आपके चरण-घर्षण के चिह्न से शोभायमान है; जो आपके नित्य दास, सख, वाहन, आसन, ध्वजा, चँदोवा तथा व्यजन हैं और जो वेदमय विग्रह हैं, वे गरुड़ सर्वदा आपके समक्ष उपस्थित रहते हैं ।।

विषयानुक्रमणिका

आश्रम परिवार की ओर से प्रकाशित

****

क्रम सं०	विषय	पृ०सं०
१.	नारायण ही परतत्त्व हैं	३-४
२.	बकासुर की मुक्ति में सन्त का आशीर्वाद हुआ कारण	५
३.	आध्यात्मिक जीवन का मूल्य	६-८
४.	पद्यमय अर्चिरादिमार्ग	८-९
५.	वैष्णव-मत-चिन्तन	१०-११
६.	अहिंसा परमो धर्मः	११-१३
७.	श्रीवैष्णव सेवा ही परम धर्म है	१३-१५
८.	हिन्दू धर्म अटल है	१५
९.	सत्य-सनातन हिन्दू धर्म	१६-१७
१०.	वर-कन्या का विवाह काल-विमर्श	१७
११.	श्री अर्जुन के ध्वज में कपिचिह्न क्यों	१८
१२.	आत्म कल्याण के लिए संस्कारों की अनिवार्यता	१९-२१
१३.	श्रीरामावतार का रहस्य	२२-२६
१४.	मृत्युपर्यन्त ब्रह्म की उपासना करें	२६-२८
१५.	श्रीस्वामी पराङ्कुशाचार्य जी महाराज का जीवन-वृत्त एवं महाप्रयाण	२८-३१
१६.	विविधमुहूर्त्ता	३२

●

नियमावली

१. यह पत्रिका त्रैमासिक प्रकाशित होगी।
२. इस पत्रिका का वार्षिक चन्दा (अनुदान) ३५ रुपये तथा आजीवन सदस्यता ५०१ रुपये मात्र हैं।
३. इस पत्रिका में भगवत् प्रेम सम्बन्धी, ज्ञान-भक्ति और प्रपत्ति के भावपूर्ण लेख या कवितायें प्रकाशित हो सकेगी।
४. किसी प्रकार का पत्र व्यवहार निम्नलिखित पते पर किया जा सकता है।
५. लेख आदि किसी भी प्रकार के संशोधन आदि का पूर्ण अधिकार सम्पादक के पास सुरक्षित होगा।

—**सम्पादक**

नारायण ही परमतत्त्व हैं

नारायण प्रब्रह्म तत्त्वं नारायणपरः...।

त्रिगुणात्मक सम्मत् वेदों, पुराणों, स्मृतियों आदि का पूर्ण अध्ययन कर लेने पर भी परतत्त्व का ज्ञान सभी को नहीं होता। जिसे आचार्य परम्परा से शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त है, उस व्यक्ति को ही आत्म-कल्याणकारक परम तत्त्व का ज्ञान होता है इसीलिए उपनिषद् में कहा गया है कि लक्ष्यदार (धारा प्रवाह) प्रवचन करने वालों से, परम मेधावी को सद् शास्त्रों को श्रवण करने से भगवान प्रसन्न नहीं होते। भगवान का वही प्रिय होता है जो परतत्त्व ज्ञान-पूर्वक उनके चरणों में अपने को समर्पित कर देता है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित श्रीस्वामी पराशर भट्ट का चरित्र उदाहरण स्वरूप पढ़े—

श्री पराशर भट्टार्य स्वामी जी के यहाँ प्रतिदिन भगवद्गित्यादि का प्रवचन चलता था। उस समय विथी में भिक्षा माँगने वाले दो महात्मा (एक के बाद दूसरा) आते थे। उनमें से एक था नानाशास्त्रों का विद्वान् और दूसरा साधारण; परन्तु परमैकान्ती दोनों अपने आगमन की सूचना देने के लिए ऊँचे स्वर से किसी स्तोत्र का पाठ करते आते थे। श्री पराशर भट्टार्य स्वामी जी अपने मकान के पास विद्वान् के आने की सूचना पाते ही किसी शिष्य से कह देते कि उसे मुण्ठी भर चावल दे दो। पण्डित भी वह भीक्षा लेकर चला जाता। फिर दूसरा महात्मा आता। उसके आते ही स्वामी जी अपना प्रवचन रोककर स्वयं उठकर उससे मिलते और स्वागत, प्रणाम व कुशल प्रश्नपूर्वक उसे भिक्षा देकर, फिर स्वस्थान लौटकर प्रवचन प्रारम्भ करते। यह काम रोज ऐसा ही चलता, यह देखकर शिष्यों ने विचार किया—गुरुजी यह क्या कर रहे हैं, विद्वान् का तिरस्कार और मूर्ख का सत्कार?।

एक दिन किसी ने उनसे इसका कारण पूछा। गुरुजी तब चुप रह गए। दूसरे दिन सबेरे जब वह पण्डित भीक्षा माँगने आया, तब उन्होंने उसे अन्दर बुलाया और स्वागत सत्कारपूर्वक हाथ जोड़कर सविनय पूछा कि मान्य विद्वद्वर! कृपया बता दीजिए कि 'तत्त्वहितपुरुषार्थों' के बारे में आपका क्या मत है? विद्वान् ने उत्तर दिया—भगवन! मैं क्या कहूँ। शास्त्र तो एक प्रकार के हैं नहीं। विभिन्न शास्त्र विभिन्न अर्थ वाला है। एक वेद वाक्य कहता है—

'हिरण्यगर्भसमवर्ततात्रे' (अर्थात् प्रलयकाल में हिरण्यगर्भ ही रहता है) जिससे चतुर्मुख ब्रह्मा परतत्त्व बताया जाता है। दूसरा वाक्य शिव को परतत्त्व बताता है— ***'न सन्न चासच्छिव एव केवलः'*** (केवल शिव के अतिरिक्त दूसरा कोई चेतन या अचेतन नहीं रहा)। ***'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे'*** (रुद्र एक ही था, दूसरा कोई नहीं) इत्यादि। तीसरा वाक्य तो इन्द्र को ही परतत्त्व द्योतित करता है। ***'न किरीन्द्र त्वदुत्तरः'*** (हे इन्द्र! तुमसे श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं) ***'एको ह वै नारायण आसीत्'*** इत्यादि, नारायण को परतत्त्व बताने वाले वाक्य भी बीच में ही हैं। इस प्रकार स्पष्टता के विना जब जो मन में आया, सो कहने वाली श्रुति का अध्ययन कर हम कैसे कोई निश्चय पा सकेंगे? हित व पुरुषार्थ के बारे में भी इसी प्रकार परस्पर विरुद्ध ही वेद वचन मिलते हैं। अत: मैं निश्चित रूप से क्या कहूँ? किसी प्रकार का निश्चय हो नहीं सकता।

भट्टार्य स्वामीजी ने फिर पूछा कि यह बात तो ठीक है; परन्तु आप विद्वान् हैं और अपनी विद्वता से इन श्रुतियों को समरस बनाकर एक निश्चित अर्थ निकाल सकते हैं। अत: हमें यही बतला दीजिए कि आपका अपना अभिप्राय क्या है? विद्वान् बोले

कि हाँ, विभिन्न विद्वान् अपने-अपने अभिप्राय के अनुसार पृथक्-पृथक् निश्चय कर डालते हैं। फलत: इसमें मतभेद हो गये हैं; परन्तु यह मार्ग मुझे पसन्द नहीं। यह सुनकर स्वामी जी ने उन्हें विदा कर दिया। उस दिन उसे रोज की भिक्षा भी नहीं मिली। खिन्न होकर वह निकल गया। थोड़ी देर में वह दूसरा महात्मा आया जिसे लोग अल्पज्ञ मानते थे। स्वामी जी ने उसका स्वागत किया, अन्दर बुलाकर दिव्य आसन पर बिठाया और सविनय पूछा—

स्वामिन्! यद्यपि यहाँ पर रोज प्रवचन के नाम से कुछ होता रहता है; परन्तु 'तत्त्वहितपुरुषार्थों' के विषय में हमने कुछ निश्चय नहीं पाया। अत: आप हमें इस विषय का निर्णय सुनाने की कृपा करें। यह सुनकर उस महात्मा ने अश्रूपूर्णाक्ष होकर गद्‌गद कण्ठ से प्रत्युत्तर दिया कि सर्वथा अज्ञ मैं दूसरी वीथियाँ छोड़कर इस एक वीथी में भिक्षा ले रहा हूँ; क्योंकि यहाँ उत्कृष्ट शास्त्रार्थ ज्ञान वाले आप जैसे महान पुरुष विराजमान हैं; परन्तु अब आप ऐसा विलक्षण प्रश्न पूछ रहे हैं। मैं क्या कहूँ? आपके पिताजी की तथा श्रीरामानुज स्वामी जी की प्रवचन गोष्ठियों में मैंने खूब सुना हूँ कि भगवान श्रीमन्नारायण ही परतत्त्व हैं, उनके पादारविन्द में की जाने वाली शरणागति ही हितकर है और उनकी सेवा ही परम

शास्त्राण्यधित्यापि भवन्तिमूर्खाः ।
यस्तु क्रियावान् पुरुष स विद्वान् ।।

सन्तवाणी

पशु, पक्षी, कीटादि प्राणी जो स्वयं नामोच्चारण में असमर्थ हैं, वे हरिनाम को सुनकर ही उत्तमगति को प्राप्त करते हैं। श्रीकृष्ण के नाम जप से तो मनुष्य आप ही तरता है; परन्तु ऊँचे स्वर से सङ्कीर्तन करने से वह दूसरों को भी तारता है। जप करने वाले की अपेक्षा उच्च स्वर से सङ्कीर्तन करने वाला सौगुणा अधिक फल पाता है। प्रेम पूर्वक उच्च कण्ठ से श्रीकृष्ण नाम सङ्कीर्तन करते रहने पर अनेक जीव श्रवण मात्र से ही मुक्त हो जाते हैं। भैया! तुम्हारे सामने भयानक प्रलय आ रहा है, हरिनाम लो दूसरा उपाय नहीं। अपने भावी कल्याण के लिए भयानक मोह और पापों को छोड़कर सब प्रकार से हरिनाम को अङ्गीकार करो। सङ्कीर्तनरूप सूर्य के प्रभाव से पापरूपी अन्धकार नष्ट हो

बकासुर की मुक्ति में सन्त का आशीर्वाद हुआ कारण

सच्चे सन्तों के आशीर्वाद से दानवों को भी मुक्ति मिली है, इसका उदाहरण बकासुर है। 'ह्यग्रीव' नामक दैत्य के एक पुत्र था, जो 'उत्कल' नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसने समराङ्गण में देवताओं को परास्त करके देवराज इन्द्र के छत्र को छीन लिया था। उस महाबली दैत्य ने और भी बहुत-से मनुष्यों तथा नरेशों की राज्य-सम्पत्ति का अपहरण करके सौ वर्षों तक सर्ववैभव-सम्पन्न राज्य का उपभोग किया। एक दिन इधर-उधर विचरता हुआ दैत्य 'उत्कल' गङ्गासागर सङ्गम पर सिद्ध मुनि जाजलि की पर्णशाला के समीप गया और पानी में बंशी डालकर बारम्बार मछलियों को पकड़ने लगा। मुनि ने उसे मना किया; परन्तु उस दुर्बुद्धि ने उनकी बात नहीं मानी। मुनिश्रेष्ठ जाजलि सिद्ध महात्मा थे, उन्होंने उत्कल को शाप देते हुए कहा—

अरे दुर्मते! तू बगुले की भाँति मछली पकड़ता और खाता है, इसलिये बगुला ही हो जाओ। फिर क्या था, उत्कल उसी क्षण बगुले के रूप में परिणत हो गया। तेजोभ्रष्ट हो जाने के कारण उसका सारा गर्व दूर हो गया। उसने हाथ जोड़कर मुनि को प्रणाम किया और उनके दोनों चरणों को पड़कर कहा—

हे मुने! मैं आपके प्रचण्ड तपोबल को नहीं जानता था। हे जाजलि जी! मेरी रक्षा कीजिये। आप जैसे साधु महात्माओं का सङ्ग तो उत्तम मोक्ष का द्वार माना गया है। जो शत्रु और मित्र में, मान-अपमान में, सुवर्ण और मिट्टी के ढेले में तथा सुख और दुःख में भी समभाव रखते हैं, वे आप जैसे महात्मा ही सच्चे साधु हैं। हे मुने! इस भूतल पर महात्माओं के दर्शन से मनुष्यों का कौन-कौन मनोरथ नहीं पूरा हुआ। ब्रह्मपद, इन्द्रपद, सम्राट् का पद तथा योगसिद्धि सब कुछ सन्तों की कृपा से सुलभ हो सकते हैं। हे मुनिश्रेष्ठ जाजले! आप-जैसे महात्माओं से लोगों को धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति हुई तो क्या हुआ। साधु पुरुषों की कृपा से तो साक्षात् पूर्ण ब्रह्म परमात्मा भी मिल जाते हैं। श्रीनारदजी कहते हैं—

हे नरेश्वर! उस समय उत्कल की विनययुक्त बात सुनकर वे जाजलि मुनि प्रसन्न हो गये, जिन्होंने साठ हजार वर्षों तक तपस्या की थी, उन्होंने उत्कल से कहा। वैवस्वत मन्वन्तर प्राप्त होने पर जब अट्ठाईसवें द्वापर का अन्तिम समय बीतेगा, उस समय भारतवर्ष के माथुर-जनपद में स्थित व्रजमण्डल के भीतर साक्षात् परिपूर्णतम भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावन में गोवत्स चराते हुए विचरेंगे। उन्हीं दिनों तुम भगवान् श्रीकृष्ण में लीन हो जाओगे, वैसा ही हुआ। भगवान की कृपा से बकरूपधारी उत्कल मुक्त हो गया।

है बड़ी भगवत जन की आशा।
उनके पद तीरथ के तीरथ, कहत धर्म इतिहासा।।१
इनकर पद पावन के पावन, करत फिरैं सब आसा।।२
इनके पद सरोज के पीछे, धावत रमा निवासा।।३
इन पद की महिमाँ वह सबविध, जानतु हैं दुर्वासा।।४
व्रत जप तप कर योग यज्ञ बहु कोउ ज्ञान हि के प्यासा।।५
दीन सदा हरि जन पद पनही केर करत इक आशा।।६
हरि विमुखन गुरु विमुख लही गति, यह अनेक इतिहासा।।७
हरिजन विमुख लहि न काहु गति, इन्हें सदा यम त्रासा।।८

●

आध्यात्मिक जीवन का मूल्य

जीवन के विषय में लोगों के कैसे विचार हैं? इस दृष्टि से अखिल मानव जाति के दो स्थूल भेद हो सकते हैं–एक तो वे हैं, जो लोगों के जीवन को आधिभौतिक दृष्टि से देखते हैं और दूसरे वे हैं जो उसे आध्यात्मिक दृष्टि से देखते हैं। दूसरी श्रेणी के लोगों में कुछ ऐसे मनुष्य भी होंगे, जिन्होंने कभी इस बात को स्पष्टतया समझने का कष्ट नहीं किया होगा कि मानव-जीवन का अर्थ और उद्देश्य क्या है?

हम लोगों में से अधिकांश मनुष्य जीवन-निर्वाह के कार्य में अत्यन्त व्यस्त रहते हैं। वे यह जानने की चेष्टा भी नहीं करते कि जीवन क्या वस्तु है? धार्मिक एवं आध्यात्मिक जीवन का कितना मूल्य और कैसा महत्त्व है? इस बात को हमलोग केवल वर्णन के द्वारा ही स्वीकार करते हैं। वास्तव में इस सम्बन्ध में हम इतने उदासीन हैं कि अपने पवित्र धर्मग्रन्थों का न तो अध्ययन करते हैं न मनन और न उसके भीतरी भावों का वास्तविक महत्त्व ही समझते हैं।

सभी लोग चाहते हैं कि हम पूर्ण बनें, हमें शान्ति मिले, हमारा जीवन समन्वय पूर्ण हो, हम निर्भय हो जायें और हमें सच्चे ज्ञान एवम् अक्षय सुख की प्राप्ति हो, किन्तु जिस मार्ग का अनुसरण करने से हम अपने इस अभिष्ट स्थान पर पहुँच सकते हैं, उस मार्ग पर चलने के लिए हम लोगों में से कितने मनुष्य सच्चे दिल से तैयार हैं?

संसार में जितने भी धर्म हैं, वे सब जगत् का एक आदि कारण मानते हैं। जो स्वयं कारण-हीन है और जिसे वे ईश्वर के नाम से पुकारते हैं। चाहे वह व्यक्त रूप में हो अथवा अव्यक्त रूप में उसे हम संसार की सबसे आदर की वस्तु मानते हैं। उसे हम अपने जीवन का मूल मानते हैं और हमारा विश्वास है कि बड़े से बड़े गुण जिनकी हम कल्पना कर सकते हैं, वे सब उस ईश्वर के अन्दर विद्यमान है। वह निरस्त निखिल दोष, निरतिशय पूर्णता, निरतिशय शान्ति, निरतिशय ज्ञान और सुख से संयुक्त है वह जीवन का स्रोत है। उसी से सारे जगत् की उत्पत्ति होती है और उसी के अन्दर प्रलय के समय सारा जगत् विलीन हो जाता है। हमें जिस किसी श्रेष्ठ या महत्त्वपूर्ण वस्तु की इच्छा होती है, वह वास्तव में उसी के सन्निकट होने से प्राप्त होती है। लौकिक व्यवहार में हम मनुष्य पर विश्वास कर लेते हैं, जो अपनी ईमानदारी के कारण हमारे आदर का पात्र होता है; परन्तु यह कितने दुर्भाग्य की बात है कि जिस परमात्मा पर हमें सबसे अधिक भरोसा होना चाहिए, उसका हम बहुत कम भरोसा करते हैं। हमारा एक-दूसरे के वचनों में पूर्ण एवं दृढ़ विश्वास है, किन्तु हमें उस अव्यय पुरुष के वचनों और प्रतिज्ञाओं में, जिसकी हम परमात्मा रूप में उपासना करते हैं, यथेष्ठ श्रद्धा नहीं है।

सनातन धर्मावलम्बी श्रीकृष्ण को विष्णु का पूर्ण अवतार और श्रीमद्भगवद्गीता को उन्हीं की दिव्य वाणी मानते हैं, जिसका उन्होंने कुरुक्षेत्र की युद्ध भूमि में उपदेश दिया था और जो योग भोग का ऐसा ग्रन्थ है, जो सर्वभूतों के लिए उपयोगी है। यदि हम यथार्थ में और सच्चे मन से श्रीकृष्ण को परमात्मा मानते हैं, जो सर्वभूतों के हृदय में समान भाव से निवास करने वाले हैं और यह समझते हैं कि उनके सम्बन्ध से हमारे अन्दर सारे दिव्य गुण आ सकते हैं और हमारा जन्म-मृत्यु तथा दुःख-शोक से यहाँ तक की सारे द्वन्द्वों से छुटकारा हो सकता है एवं हमें पूर्ण सुख की प्राप्ति हो सकती है, तो क्या हमारे लिए यह उचित नहीं है कि हम उनकी दिव्य प्रतिज्ञा पर पूरा विश्वास करें और

आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग पर पैर रखें? आठवें अध्याय के चौदहवें श्लोक में भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन! जो अनन्य चित होकर मेरा स्मरण करता है और जो नित्य (मुद्रा में) युक्त है, वह योगी मुझे सहज में ही प्राप्त कर सकता है।

आगे चलकर नवम अध्याय के २२वें श्लोक में भगवान फिर प्रतिज्ञा करते हैं कि जो लोग अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं और जो नित्य युक्त हैं उन्हें मैं निर्भय बना देता हूँ। हे अर्जुन! उसी की अनन्य भक्ति से उन परम पुरुष की प्राप्ति हो सकती है, जिसके अन्दर सारे प्राणी निवास करते हैं और जिसने सारे दृष्यमान जगत् को व्याप्त कर रखा है।

इनसे अधिक निश्चित, स्पष्ट और पूर्णतया असन्दिग्ध शब्द क्या हो सकते हैं? अब यदि हम उपर्युक्त श्लोकों में की हुई भगवान की प्रतिज्ञा को चरितार्थ करना चाहते हैं तो हमें एक ऐसी शर्त अक्षरश: अवश्य पूरी करनी पड़ेगी, जिसमें किसी प्रकार का न्यूनाधिक्य नहीं हो सकता। उस शर्त को हम एक शब्द 'भक्ति' से निर्दिष्ट कर सकते हैं। भक्ति का लक्षण नारद ने अपने सूत्रों में इस प्रकार किया है—

सा त्वस्मिन् परमप्रेम रूपा।

उस परमात्मा के प्रति अतिशय प्रेम का नाम भक्ति है। किसी व्यक्ति के प्रति भक्ति का भाव इसी प्रकार का होता है। आगे चलकर नारदजी फिर कहते हैं—

ज्ञदर्पिताखिला चरिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।
(ना०सू०–१०)

सारे कर्मों को उस परमात्मा के चरणों में अर्पण कर देना और उसकी स्मृति भूल जाने पर अत्यन्त व्याकुल होना ही प्रेम का लक्षण है। जिस मनुष्य को प्रेम की यह निधि मिल गयी, उसकी दशा का नारदजी इस प्रकार वर्णन करते हैं—

'यं लध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति', 'यत्प्राप्य न किञ्चिद्गच्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति'।
(ना०सू०–४-५)।

जिस प्रेम को पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता है। जिसे पाकर उसे न किसी बात की इच्छा रहती है, न चिन्ता रहती है, न किसी में अशान्ति होती है और न वह किसी विषय को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। जिसे जानकर वह मस्त हो जाता है, चेष्टाहीन हो जाता है और अपने ही अन्दर सुखी रहता है। इस प्रकार की भक्ति कैसे प्राप्त हो? इसका पहला उपाय है—अपने अन्दर परमात्मा से मिलने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न करना। भक्ति को तो हटा दें। भक्ति की तो बात ही बहुत ऊपर की है। लोक में धन, मान और सांसारिक भोग भी जब तक उनके लिए उत्कट इच्छा नहीं होती और उचित मूल्य नहीं दे दिया जाता, तब तक प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार प्रारम्भिक श्रेणी के साधकों के प्रति भाष्यकार श्रीरामानुज स्वामी का यह उपदेश है कि पहले अपने शरीर को सात्त्विक आहार के ग्रहण और दूषित एवं निकृष्ट पदार्थों के त्याग से शुद्ध करें, शुद्ध विचार और उच्च भावना को जागृत करें। इसी तरह शौच का भी पालन करना उचित है, जिससे यह शरीर सब तरह से एक भक्त के रहने योग्य मन्दिर के काम में लाना होगा। इसके अनन्तर स्वामी रामानुजाचार्य जी इस महान् सूत्र को हमलोगों के सामने रखते हैं कि शुद्ध भोजन, शुद्ध चित और भगवान का निरन्तर स्मरण करो यही साधक के लिए आम साधन है। जो भक्त बनना चाहता है, उसके प्रति यह भी उपदेश दिया जाता है। वह कामनाओं को त्याग का अभ्यास करे। तदनन्तर अपनी चित्तवृत्ति भगवान की ओर लगाने की चेष्टा करे।

प्रत्येक वस्तु का कुछ न कुछ मूल्य अवश्य होता है। तब क्या परमात्मा की भक्ति बिना परिश्रम किये और यथेष्ट कष्ट उठाये विना मिल सकती है? जिस प्रकार हम नाम और ख्याति के लिए काम करते हैं, उसी प्रकार परमात्मा के लिए काम करना हम सब सीखेंगे? जिस उत्साह के साथ हम इस विनश्वर और आनन्दहीन जगत् के खिलौनों और तुच्छ पदार्थों के पीछे दौड़ते हैं, उसी उत्साह के साथ हम उन त्रिभुवन मोहन की मुखछवि और रूप-माधुरी को निहारने के लिए कब लालायित होंगे। इस प्रकार क्रमश: अनेक भूमिकाओं को पार करने के अनन्तर खोज और भक्तिपूर्वक आराधना करते-करते एक दिन ऐसा आवेगा जब भक्त-भावन भगवान अपने भक्त को दर्शन देकर कृतार्थ करेंगे और जिस शर्त का पूरा होना आवश्यक है, उसके पूर्ण होते ही हमें आध्यात्मिक जीवन मूल्य उपलब्ध हो जाएगा। वे वास्तव में धन्य हैं, जो अपने जीवन का मूल्य समझने का प्रयास करते हैं।

पद्ममय अर्चिरादि मार्ग

किसी व्यक्ति का अपना घर या उसके विशेष प्रिय व्यक्ति को घर पता रहता है तभी वह पहुँचता है सारे श्रीवैष्णव के पिता नारायण हैं माता लक्ष्मीजी हैं और अपना घर वैकुण्ठ है। जिस वैकुण्ठ लोक में देवियों के साथ भगवान विराजते हैं वह लोक स्वयं प्रकाशस्वरूप परमानन्दमय और मुक्तात्माओं के लिए भोग्य है। सभी श्रीवैष्णव को यह चिन्तन कराते हैं कि अब हम शीघ्र भगवान के पास वैकुण्ठ में पहुँचेगे। उनकी बुलाहट तुरन्त आवेगी। उसे सुनकर मैं बहुत प्रसन्न होऊँगा। किसी व्यक्ति को जब दूर जाना रहता है, तब वह मार्ग के लिए कलेवा (भोजन के सामान) साथ ले लेता है। श्री आचार्य जी ने कहा कि मुझे वैकुण्ठ में भगवान के पास जाना है उसके लिए रामनाम का प्रेम से जप करता जाऊँगा, वही मेरा कलेवा होगा। वेद बीज (ओङ्कार रूप) रथ पर बैठकर मगन से हरिगुण गान करते हुये चलेंगे। स्थूल शरीर से निकलकर जीवात्मा अर्चिरादि मार्ग से वैकुण्ठ जाता है।

स्थूल शरीर से निकलने के बाद अग्निलोक से आरम्भ कर बारहवाँ ब्रह्मा के लोक में पहुँचता है। सब लोक के अभिमानी देवों से सम्मानित होता हुआ ब्रह्मा के लोक में जब वह पहुँचता है तब ब्रह्मा भी मुक्तात्मा को बहुत सम्मान कर अपने लोक में रहने के लिए आग्रह करते हैं; परन्तु भगवान वैकुण्ठ नाथ के दर्शन का उत्कट अभिलाषी जीव वहाँ नहीं ठहरता है।

इसी आशय को व्यक्त करने के लिए श्री आचार्य ने कहा है—

बाबा लोक देन जब लगिहै।
तबहुँ कबहुँ न ठगायेव हो रामा।।

'ब्रह्मा' पितामह कहे जाते हैं। उन्हीं को श्रीस्वामी जी यहाँ 'बाबा' शब्द से कहे हैं। अर्थात् बाबा लोक (सत्यलोक) ब्रह्माजी देने लगेंगे तब भी हम नहीं ठगायेंगे; क्योंकि हमें तो अविनाशी वैकुण्ठ लोक में जाना है, फिर ब्रह्मा के सत्यलोक को लेकर हम क्यों ठगायेंगे?।

ब्रह्मा के लोक के बाद प्रकृति मण्डल में सात घेरा है, जो एक से दूसरा दश गुणा अधिक बड़ा है। इस तरह सातों घेरे को पार कर जाने पर विरजा नदी मिलती है, जो वैकुण्ठ और प्रकृति-मण्डल के बीच में है।

उसे सीमान्त नदी कहते हैं। उस विरजा के इस पार तक प्रकृति-मण्डल है और उस पार से वैकुण्ठ की सीमा प्रारम्भ होती है। उस विरजा नदी

में ज्ञान की धारा प्रवाहित होती है। इसको श्रीस्वामी जी 'वेदशीर्ष' नद शब्द से वर्णन किये हैं—

सातो घेर तुरत जब लाङ्घव ।
वेदशीर्षहुँ नद देखव हो राम ।।

उस विरजा नदी में डूब-डूबकर नहायेंगे और मल को हटायेंगे। विरजा नदी के उस पार में अमानव रूप भगवान रहते हैं। वहाँ जीव चतुर्भुज बन जाता है। उस प्रभु के चरणों को सिर झुकाकर प्रणाम करेंगे। वहाँ से ब्रह्मलोक में पहुँचने पर सुन्दर चतुर्भुज रूप में ब्रह्म-गन्ध और ब्रह्म-तेज प्राप्त होते हैं। उस दिव्य धाम वैकुण्ठ में भगवान के पार्षदगण सामवेद का विविध प्रकार से गान करते हैं। जिसकी अति मधुर ध्वनि सुनने को मिलती है। जो अति सुखद लगती है। गान करते समय भेरी, मृदङ्ग आदि वाद्य गुँजते रहते हैं उनमें पिआरी, सहनाई वाद्य भी रहती है। तदनन्तर नित्य और मुक्तों की विथियों के भीतर मुक्तात्मा की सेवा के लिए चौका पूरते हैं, छत्र-चँवर लगाते हैं। जगह-जगह पर कलश सजाते हैं। इतर, अगर तथा कुसुम, फूल बर्षाते हैं। वहाँ दिव्यसूरि की घर-घर में पूजा होती है। दिव्य-मणिमय मण्डप में शेष शय्या पर विराजमान भू, श्री और नीला देवी के बीच बैठे हुए प्रभु का दर्शन होगा। वहाँ की भाषा में प्रभु से बोलूँगा। वहाँ एक शरीर से प्रभु की सेवा से तृप्ति नहीं होती है तो अनेक शरीर धारण कर मनोनुकूल प्रभु की सेवा करूँगा। वहाँ सभी काल और सर्व अवस्था में महालक्ष्मी जी के साथ नारायण की सेवा करूँगा।

उपनिषदों एवं ब्रह्मसूत्र में वर्णित अर्चिरादिमार्ग भक्तों को सुलभ रूप में सझने एवं गाने के दृष्टी से परमपूज्य सरौती स्थानाधीश श्रीस्वामी जी महाराज ने मगही भाषा मिश्रित हिन्दी में अर्चिरादिमार्ग को पद्यों में निर्माण किया है। हम सारे श्रीवैष्णव परिवार उस पद्यमय अर्चिरादि मार्ग को याद कर भगवान से प्रार्थना अवश्य करें।

* * *

दया किन्ह भगवान सन्त मोहि मिललन ये ।
तब सन्त किये उपदेश शरण हरि के भये ये ।।
दिन्ह ज्ञान भगवान हृदयतम भागल ये ।
तब तन धन से मन भगवत के चरण लगे ये ।।
अन्तर्यामी कृपा करि धमनी धरवतन ये ।
हरि अर्चि के पथ बतलवतन उपर दिखबतन ये ।।
अतिवाहिक देव मिलि मोहि रथ बइठवतन ये ।
तब दिन पक्ष मास वर्ष पति पूजन करवतन ये ।।
बात सूर्य विधु चपल वरुण इन्द्र विधि पुर ये ।
पुनि जायेव बिरजा नहाएव तनहुँ विलायेव ये ।।
अतिमानव भगवान स्वरूप निज देतन ये ।
तब दिव्य विमान चढ़ाई देव लै जयतन ये ।।
आरंग ताल नहायब गन्ध लग वाएव ये ।
पुनि तिल तर भूषण वसन पहिर वनि जायेव ये ।।
लक्ष्मी सरोवर पहुँचव बहुरि नहायेव ये ।
पुनि बहुविधि से बहुमानित हो चल जायेव ये ।।
नित्य सूरि तहँ मिलि सब हरि वमनि गवतन ये ।
तब दिव्य लोक हम देखव शीश नवाएव ये ।।
पाँव पाँव हम दौड़व हाबु हाबु बोलव ये ।
मन देखतहि भगवान हँ भर के बुलवतन ये ।।
जातहि हम गिर जायेव हरि के चरण तर ये ।
प्रभु चारिउ कर धर मोहि हृदय में लगवतन ये ।।
शिर पर कर धर पुछतन बबुआ तु कहाँ हल हो।
तब तनुकर जन्म मरण दुःख कह समुझायेव ये ।।
लक्ष्मी के गोद प्रभु देतन हम हँस बैठव ये ।
मैया मुख चुम्बत चुचुकारत अधिक दुलारत ये ।।
हृदय के जलन बुतायेत शान्ति सुखद जल से ।
अति मोद उछाह प्रवाह सुनेह निवाहन ये ।।
सेवन विधिहुँ बताई सेवा सब देतन ये ।
तब नित नव नेह लगाइ सदा हम सेवव ये ।।
ब्रह्मानन्द अघा के परम रस पायेव ये ।
श्रीलक्ष्मीनाथ के साथ सुमाथ झुकायेव ये ।।

वैष्णव-मत-चिन्तन

वैष्णव सम्प्रदाय में कतिपय सिद्धान्तों को लेकर परस्पर मतभेद तथा वैषम्य अवश्यमेव वर्तमान है तथापि कतिपय ऐसे तथ्य हैं जिनमें सभी वैष्णव चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय का अनुयायी हो, समभावेन श्रद्धा रखता है और उनकी सत्यता में पूर्ण विश्वास करता है। वैष्णवों के अनुसार भगवान भगवत्तत्व सगुण तथा निराकार ब्रह्म सर्वदैव विद्यमान रहते हैं। उदाहरण के लिए हम सूर्य तथा उससे विनिर्गत प्रभापुञ्ज को ले सकते हैं। सूर्य स्वयं सगुण तथा साकार रूप से विद्यमान रहता है; परन्तु उससे निकलने वाला प्रभापुञ्ज जगत् में व्यापक होने पर भी निराकार ही रहते हैं। गीता के अनुसार अक्षर ब्रह्म तो निर्गुण रूप ही है; परन्तु भगवान् अनन्त कल्याण गुण निकेतन समस्त प्राकृत-गुण-विहीन हेयप्रत्यनीक होते हैं तथा भक्तों की रसमयी भक्ति के परवश होकर इस प्राकृत लोक में अपनी लीला के आस्वाद के लिए भी अवतार धारण करते हैं। वह अपने भगवद् धाम में विग्रह धारण करते हैं और यह विग्रह छः गुणों के समुच्चय से सम्पन्न होते हैं जिनके नाम हैं–ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज। भगवान निर्गुण होकर भी सगुण होते हैं। अप्राकृत गुणों से हीन होने क कारण वे निर्गुण कहलाते हैं और उपर्युक्त छः गुणों से संवलित होने के हेतु वह सगुण तथा 'षाड्गुण्यविग्रह' कहलाते हैं। भगवान् सर्वदा स्वामी, विभु तथा शेषी होते हैं और जीव स्वभाव से ही दास, अणु तथा शेष होता है। भगवान केवल भक्ति के द्वारा ही प्राप्य हैं। ज्ञान तथा कर्म का आश्रय भी वैष्णव मत में मान्य है; परन्तु अङ्गत्वेन मुखत्वेन नहीं। अर्थात् कर्म के अवलम्बन से भक्त का चित शुद्ध होता है तथा ज्ञान के द्वारा आत्मबोध होता है; परन्तु परमात्मा की उपलब्धि में भक्ति ही एक मात्र साधन है। भक्ति साधन, रूपा भी है तथा साध्य रूपा भी। साधन भक्ति नवधा मानी जाती है, जिसमें आत्म-निवेदन ही सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। सभी वैष्णव-सम्प्रदाय शरणागति की श्रेष्ठता तथा उपादेयता पर एक मत हैं। शक्तिपात के द्वारा ही जीव का परम कल्याण होता है।

भक्ति इस लोक की वस्तु नहीं है। विना भगवान के अनुग्रह के जीव में न तो भक्ति का उदय हो सकता है न वह भगवान के कैङ्कर्य को ही प्राप्त करता है। वैष्णव मतों की आस्था केवल विदेह मुक्ति के ऊपर ही है, जीव मुक्ति के ऊपर नहीं, जब तक जीव धारण किये रहता है तब तक दुःखों के क्षीण होने पर भी वह सर्वदा के लिए क्षीण तथा ध्वस्त नहीं हो जाता। देह की सत्ता उसके पुनः उदय की सम्भावना लिये रहती है। विदेह मुक्ति होने पर ही जीव भगवान के सान्निध्य में रहकर उनकी सेवा करता हुआ आनन्दमय जीवन बिताता है। मुक्तदशा में भी जीव सेवा के निमित्त देह धारण करता है; परन्तु यह शरीर शुद्ध सत्व के उपादान से निमित्त होने के कारण अप्राकृत, शुद्ध, चिन्मय नितान्त विशुद्ध होता है। सामीप्यादि भेदों में भक्त का भगवान् से किञ्चिदेश में भेद बना रहना स्वाभाविक ही है।

परन्तु, सायुज्य मुक्ति में भी जहाँ मुक्तात्मा जीव भगवान के साथ एक भावापन्न हो जाता है, वहाँ भी जीव का पृथग्भाव ही रहता है। वैष्णवों की मुक्ति समुद्र में विन्दु के विलय के समान नहीं है। प्रत्युत, वह दो सम केन्द्र वृत्तों के मिलन के सदृश है, जिसमें एक के ऊपर रखने से दूसरा वृत्त एकाकार अवश्य हो जाता है, तथापि वह अपनी पृथक् सत्ता तथा वैशिष्ट्य बनाये रहता है।

जीवात्मा की मुक्तावस्था में आठ गुणों का

प्रादुर्भाव होता है। मुक्त जीवात्मा पाप रहित जरा, मृत्यु, पिपाशा, क्षुधा से रहित सत्य, काम और सत्य सङ्कल्प हो जाता है, अत: वेदान्तसूत्र ***'भोगमात्र साम्यलिङ्गाञ्च'*** *(४.४.२१)* से बताया गया है कि मुक्तात्मा ब्रह्म के यथार्थ अनुभव रूप भोगमात्र तथा चतुर्भुज आदि रूप में समानता रहती है। जगत् का सृजन, पालन, संहार जीवात्मा में नहीं आते ***'जगद्व्यापारवर्गं प्रकरणादसन्निहितत्वाञ्च'*** *(वेदान्तसूत्र-४.४.१७)* जो जीवात्मा मुक्त हो जाता है पुन: संसार में नहीं लौटता—

'स खल्वेवं वर्त्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते
न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते'।
अनावृत्तिशब्दादनावृत्तिशब्दात्।
(वे०सू०-४.४.२२)

●

अहिंसा परमो धर्मः

अहिंसा–शरीर, वाणी अथवा मन से काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि की मनोवृत्तियों के साथ किसी प्राणी को शारीरिक, मानसिक पीड़ा अथवा हानि पहुँचाना या उसकी अनुमति देना या स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से उसका कारण बनना हिंसा है। इससे बचना अहिंसा है। गो, अश्व आदि पशुओं को उचित रीति से पालन-पोषण करके प्राणहरण न करते हुए उनसे नियमित रूप से दूध आदि सामग्री प्राप्त करना तथा सेवा लेना हिंसा नहीं है; परन्तु यही जब उनकी रक्षा का ध्यान न रखते हुए दूध, सेवा आदि क्रूरता के साथ लिया जाय तो हिंसा हो जाती है।

शिक्षार्थ ताडना देना, रोग निवारणार्थ औषधि देना अथवा ऑपरेशन करना, सुधारार्थ या प्रायश्चित्त के लिए दण्ड देना हिंसा नहीं है। यदि ये बिना द्वेष आदि के केवल प्रेम से उनके कल्याणार्थ किये जायँ; परन्तु यही जब द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह और भय आदि की मनोवृत्तियों से मिश्रित हो तो हिंसा हो जाती है। प्राणों का शरीर से वियोग करना सबसे बड़ी हिंसा है। श्री व्यास जी महाराज ने अहिंसा की व्याख्या इस प्रकार की है—'सर्वकाल में सर्व प्रकार में सब प्राणियों का चित्त में भी दाह करना अहिंसा है'। अहिंसा ही सब यम नियमों का मूल है। उसी के साधन तथा सिद्धि के लिए अन्य यम और नियम हैं और उसी अहिंसा को निर्मल रूप बनाने के लिए यम-नियम ग्रहण किये जाते हैं।

जिस प्रकार सारे क्लेशों का मूल अविद्या है, उसी प्रकार सारे यमों का मूल अहिंसा है। हिंसा तीन प्रकार की है—***(१) शारीरिक***–किसी प्राणी का प्राण-हरण करना अथवा अन्य प्रकार से पीड़ा पहुँचाना। ***(२) मानसिक***–मन को क्लेश या मन से किसी का अहित (बुरा) चाहना। ***(३) आध्यात्मिक***–अन्त:करण मलिन करना। यह राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि तमोगुण वृत्ति से मिश्रित होती है। किसी प्राणी की किसी प्रकार का हिंसा करने के साथ-साथ हिंसक अपनी आत्मिक हिंसा करता है, अर्थात् अपने अन्त:करण की हिंसा के क्लिष्ट संस्कारों के मत से दूषित करता है। इन प्रकार की हिंसाओं में सबसे बड़ी हिंसा आध्यात्मिक हिंसा है, जैसा कि ईशोपनिषद् में बतलाया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृता:।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना:॥

जो कोई आत्मघाती लोग हैं (अर्थात् अन्त:करण को मलिन करने वाले हैं), वे मरकर उन लोकों में

(योनियों में) जाते हैं, जो असुरों के लोक कहलाते हैं और घने अँधेरे से ढके हुए हैं अर्थात् ज्ञानरहित मूढ़ नीच योनियों में जाते हैं।

शरीर तथा मन की अपेक्षा आत्मा श्रेष्ठतम है; क्योंकि शरीर और मन तो आत्मा के कारण (साधन) है। जो मनुष्य को उसके कल्याणार्थ दिये गये हैं। इसलिए हिंसक अधिक दया के पात्र हैं। उसके प्रति भी द्वेष अथवा बदला लेने की भावना रखना हिंसा है। इसलिए जिस पर हिंसा की जाती है, उसके तथा हिंसक दोनों के कल्याणार्थ हिंसा पाप को हटाना तथा अहिंसा-धर्म को ग्रहण करना चाहिये। योगी में अहिंसा-व्रत की सिद्धि से आत्मिक तेज इतना बढ़ जाता है कि उसकी सन्निधि से ही हिंसक हिंसा की भावना को त्याग देता है। मानसिक शक्ति वाले मानसिक बल से अहिंसा को बल दें, वाचिक तथा शारीरिक शक्ति वाले जहाँ तक उनका अधिकार है, उस सीमा तक इन शक्तियों द्वारा हिंसा के रोकने में प्रयोग करें। शासकों तथा न्यायाधीशों का परम कर्त्तव्य संसार में अहिंसा-व्रत की स्थापना करना है जिस प्रकार कोई मनुष्य मदोन्मत्त अथवा पागल होकर किसी घातक शस्त्र से, जो उसके पास शरीर रक्षा के लिए है, अपने ही शरीर पर आघात पहुँचाने लगे, तो शुभचिन्तकों का यह कर्त्तव्य होता कि उसके हितार्थ उसके हाथों से वह शस्त्र हरण कर ले। इसी प्रकार यदि कोई हिंसक शरीर रूपी शस्त्र से, जो उसकी आत्मा के कल्याणार्थ दिया गया है, दूसरों की तथा अपनी ही आत्मा को हिंसा रूपी आघात पहुँचा रहा है और अन्य किसी प्रकार से उसका सुधार असम्भव हो गया है तो अहिंसा तथा उसके सहायक अन्य सब यमों की सुव्यवस्था रखने वाले शासकों का परम कर्त्तव्य होता है कि उसके शरीर का उससे वियोग कर दें। यह कार्य अहिंसा-व्रत में बाधक नहीं है; परन्तु अहिंसा-व्रत का रक्षक पोषक है।

परन्तु यदि यह कार्य द्वेषादि तमोगुण वृत्तियों अथवा बदला लेने की भावना से मिश्रित है तो हिंसा किसी में आ जाता है। अहिंसा के स्वरूप को इस प्रकार विवेकपूर्वक समझना चाहिये कि सत्वरूपी धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य (श्रेष्ठ भावनाओं के प्रकाश में अहिंसा तथा उसके अन्य सब सहायक यमों में तम रूपी अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य नीच भावनाओं के अन्धकार में हिंसा तथा उनके सहायक अन्य चारों वितर्कों में प्रवृत्ति होती है। धर्म-स्थापन के लिए युद्ध करना क्षत्रियों का कर्त्तव्य है, उससे बचना हिंसा रूपी अधर्म में सहायक होता है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि शुद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।
(गीता–२.३१)

स्वधर्म को समझकर भी तुझे हिचकिचाना उचित नहीं है; क्योंकि धर्मयुद्ध की अपेक्षा क्षत्रिय के लिए और कुछ अधिक श्रेयस्कर नहीं हो सकता—

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।।
(गीता–२.३२)

'हे पार्थ! यों अपने-आप प्राप्त हुआ और मानो स्वर्ग का द्वार ही खुल गया हो ऐसा युद्ध तो भाग्यशाली क्षत्रियों को ही मिलता है'।

वेद में भी बतलाया गया है। यथा—

ये युध्यन्ते प्रधानेषु शुरांसी ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्त्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात्।।
(अथर्ववेद–१८.२.१७)

'जो सङ्ग्रामों में लड़ने वाले हैं, जो शूर वीरतापूर्वक कार्य करने में शरीर को त्यागने वाले हैं और जिन्हें सहस्त्रों दक्षिणाएँ दी हैं तुम उनको (अर्थात् उनकी गति को) भी प्राप्त हो'।

अपनी दुर्बलता के कारण भयभीत होकर

अत्याचारियों के अत्याचार सहन करना, अपनी धन-सम्पत्ति की चोर-डाकुओं से हरण करवाना, अपने समक्ष अपने परिवार, देश, समाज अथवा धर्म को दुर्जनों द्वारा अपमानित देखना अहिंसा नहीं है बल्कि हिंसा का पोषक कायरता रूपी महापाप है। इतना बतलाना और आवश्यक है कि क्षात्र धर्मानुसार तेजस्वी वीर ही अहिंसाव्रत का यथार्थ रूप से पालन कर सकता है। दुर्बल, डरपोक, कायर, नपुंसक हिंसकों की हिंसा बढ़ाने में भागी होता है।

सर्व साधारण के लिये अहिंसा रूपी व्रत के पालन करने में सबसे सरल कसौटी यह है कि दूसरों के साथ व्यवहार करने में पहले भली प्रकार जाँच लो कि यदि तुम इनके स्थान पर होते और वे तुम्हारे स्थान पर होते तो तुम उनसे किस प्रकार का व्यवहार करना चाहते। बस, वैसा ही तुम उनके साथ व्यवहार करो यही सिद्धान्त सत्य और अस्तेय आदि यमों में घटित हो सकता है।

हर समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि हमारा जीवन प्राणिमात्र के लिए सुखदायी और कल्याणकारी हो। इमसे कोई कार्य ऐसा न होने पाये जिससे किसी को किसी प्रकार का कष्ट (दु:ख) पहुँचे।

अहिंसा-निष्ठ योगी के निरन्तर ऐसी भावना और यत्न करने से कि उसके निकट किसी प्रकार की हिंसा न होने पावे, उसके अन्त:करण से अहिंसा की सात्विक धारा इतने तीव्र और प्रबल वेग से बहने लगती है कि उसके निकटवर्ती तामसी हिंसक के अन्त:करण भी उससे प्रभावित होकर तामसी हिंसक-वृत्ति को त्याग देते हैं।

श्रीवैष्णव-सेवा ही परम धर्म है

इस जगत् में अभी तक ऋषि प्रणीत जितने भी शास्त्र हैं, सबों का सारतम सिद्धान्त है कि भगवान् की सेवा से उनके भक्तों की सेवा परम धर्म है। इसलिए उस धर्म को सारतम या विशेषतम धर्म कहते हैं। भगवान के सच्चे भक्तों ने भगवान से यही प्रार्थना की है कि हे (प्रभो) भगवान! मैं जहाँ कहीं जिस किसी योनी में जन्म लूँ वहाँ आपके परम प्रेमी भक्तों के चरणाश्रित होकर रहूँ—

अहं हरे तव पादेकमूलंदासानुदासो भवितास्मि भूयः ।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणास्ते गृह्णीतवाक् कर्म करोतु कायः ।।

यह श्रीमद्भागवत में वृत्तासुर का वचन है। वह भी राक्षस होते हुए भगवान का भक्त था, जब इन्द्र अपने वज्र से उसे मारने के लिए तैयार हो गए, तब वृत्तासुर पूर्ण विश्वस्त हो गया कि इस वज्र से मेरी मृत्यु अवश्य होगी। उस समय उसने भगवान से प्रार्थना की है कि हे हरे! अनन्य भाव से आपके चरण-कमलों के आश्रित सेवकों की सेवा करने का अवसर मुझे अगले जन्म में अवश्य प्राप्त हो। जिससे मेरा मन आपके मंगल मय गुणों का स्मरण करता रहेगा और मेरी वाणी उन्हीं गुणों का गान करेगी। साथ ही शरीर भी उनकी सेवा में संलग्न रहेगा।

भगवान के दासों की संगती में रहने से महान फल होता है। साधु सम्भाषण, उनके दर्शन, स्पर्श, कीर्तन, स्मरण, उनके प्रति किया हुआ नमस्कार– ये सभी आत्मा में सच्ची शान्ति देने वाले हैं। साथ ही लौकिक ऐश्वर्य भी सकामियों को इससे प्राप्त होता है। सन्त पुण्य तीर्थों के फल के समान हैं। सन्त की सेवा करने से जीवन सफल होता है। अत एव शास्त्र का वचन है—

साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः ।
कालेन फलदतीर्थं सद्यः साधुसमागमः ।।

सद्भिरेव सहासीता सद्भिः कुर्वीतसङ्गमम् ।
सद्भिर्विवादं मैत्रीं च नासीद्भक्तिश्चिदाचरेत् ।।

भाव यह है कि साधु जङ्गम तीर्थ हैं। स्थावर तीर्थ और साधु तीर्थ में यह अन्तर है कि स्थावर तीर्थ विलम्ब से फल देता है और साधु सङ्गति से शीघ्र फल मिलता है। इसलिए सन्तों की सङ्गति में बैठना चाहिये उनसे ही मित्रता करनी चाहिए, उन्हीं की सच्ची सेवा करनी चाहिए, यही परम धर्म है। इसी से समस्त फल प्राप्त होते हैं। इसीलिए नवमी शताब्दी के एक सच्चे सन्त श्री यामुनाचार्य जी, जिनकी वाणी समस्त वेदान्त के सारतत्त्व सिद्धान्त रूप है ने लिखा है—

तव दास्य सुखैकसङ्गिनां भवनेष्वस्त्वयि कीटजन्म मे ।
इतरावसयेषु मास्म भू दपि मे जन्म चतुर्मुखात्मना ।।

अर्थात् हे भगवान्! आप अपने चरणों की सेवा में संलग्न रहने वाले परम भागवत श्रीवैष्णव के घरों में कीट योनि में भी मेरा जन्म दे दें। जिससे भागवतों का उच्छिष्ट पसाद तथा तीर्थ आदि किसी न किसी रूप में हमें मिलता रहेगा। उनके चरण का स्पर्श मिलेगा, उसी से मुझे परम आनन्द मिलेगा। जो श्रीवैष्णव नहीं हैं उनके घरों में ब्रह्मा के रूप में भी मेरा जन्म नहीं हो। भगवान श्रीराम अपने तीनों भाइयों के साथ अवतरित हुए थे जन कल्याणार्थ अपने द्वारा चार प्रकार के धर्मों की शिक्षा दने के लिए। धर्म के चार भेद ये हैं—सामान्य, विशेष, विशेषतर और विशेषतम सत्य बोलना आदि सामान्य धर्म की शिक्षा, मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम ने दी है। भगवान् के सदा और सर्वत्र सर्वविध कैङ्कर्य में अपने आपको लगाकर श्रीलखन लाल ने विशेष धर्म की शिक्षा दी है।

प्रभु की आज्ञा का पालन इस महान धर्म को अपनाकर ही भरतजी ने विशेषतर धर्म की शिक्षा दी है और श्रीशत्रुघ्न जी ने भगवान श्रीराम की सेवा को छोड़कर उनके परम भक्त श्री भरतजी की सेवा अपनाकर विशेषतम धर्म की शिक्षा दी है। उन्होंने कभी भी भगवान की सेवा नहीं की। इसका कारण यही है कि शत्रुघ्न जी का इस लीला विभूति में परम भागवत धर्म की शिक्षा देने के लिए जन्म हुआ था। धर्म की पराकाष्ठा पर पहुँचकर विश्व के सामने शत्रुघ्नजी ने यह शिक्षा दिया की भगवत भक्त की सेवा सर्वोपरी है। यहाँ एक महान भक्त का प्रसङ्ग दिया जा रहा है जिससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि भागवत की सेवा ही प्रधान है।

काञ्चीपूर्ण नामक भगवत कैङ्कर्य में संलग्न रहने वाले एक महान भक्त हुए हैं। उनका कार्य समय लगभग दशमी शताब्दी मानते हैं। काञ्ची में दिव्य गुण-सम्पन्न परब्रह्म परमेश्वर वरदराज नाम से प्रसिद्ध है। उनका भव्य मन्दिर अभी भी विषयी जीवों को अपनी ओर खींचकर भगवत सेवा में लगा रहा है। हजारों दर्शनार्थियों की भीड़ प्रतिदिन बनी रहती है। काञ्चीपूर्ण स्वामी उन्हीं वरदराज भगवान की सेवा में प्रतिदिन लगे रहते थे, वे अतिशुद्ध तथा निर्मल हृदय के थे।

अत एव श्री वरदराज भगवान उनसे प्रतिदिन बात करते थे। एक दिन श्री काञ्चीपूर्ण स्वामी ने श्री वरदराज भगवान से पूछा कि भगवान मुझे मुक्ति मिलेगी या नहीं। श्री वरदाराज भगवान ने उत्तर दिया कि तुम्हें मुक्ति नहीं मिलेगी; क्योंकि मुक्ति में कारण है भागवत सेवा। भागवत जिसे अपना लेते है उसे ही मैं मुक्ति देता हूँ। तुम कभी भी भगवान के भक्त की सेवा नहीं किये हो। अत: तुम्हें कोई भागवत नहीं अपनाये हैं। प्रतिदिन तुम मेरी सेवा करते हो। उसके बदले में मैं तुमसे बातें कर लेता हूँ। यह सुनकर श्री काञ्चीपूर्ण स्वामी भगवान की सेवा छोड़कर श्रीमहापूर्ण स्वामी के पास गये और अपना परिचय दिये बिना ही अपरिचित

रूप में रहकर उनकी गौ की सेवा करने लगे। गायों की सेवा करते हुए वहाँ कुछ काल बीत गये। वे प्रतिदिन उनके गायों को प्रात:काल चराने के लिए ले जाते और सन्ध्या समय आश्रम में ले आते थे।

एक दिन उनका विचार हुआ कि अब मैं परीक्षा करके देखूँ कि श्री महापूर्ण स्वामी जी मुझे अपनाये हैं या नहीं? इसके लिए सायंकाल गायों को आश्रम की ओर लाते हुए आश्रम से कुछ दूर ही छोड़ दिये और आश्रम के पास आकर छिप गये। गौएँ आश्रम की वाटिका में प्रवेश कर तुलसी पुष्पादि को क्षति पहुँचाने लगीं। श्री महापूर्ण स्वामी ने उच्च स्वर में अन्य गो-चारों से पूछा कि मेरा चरवाहा कहाँ गया है? श्री काञ्चीपूर्ण स्वामी उसे सुनकर समझ गये कि अब मुझे भागवत अपना बना लिये हैं। अत: श्री महापूर्ण स्वामी के शब्दों को सुनकर वे सामने आ गये और गायों को यथा स्थान पर बाँध दिया।

द्वितीय दिन उन्होंने अपना परिचय दिया कि दास काञ्चीपूर्ण है। वरदराज भगवान की सेवा में रहता था। दास वहीं से आया है। यह सुनकर महापूर्ण स्वामी आश्चर्यचकित हो गये और उन्होंने कहा कि काञ्चीपूर्ण! जाइये और वहाँ वरदराज भगवान की सेवा कीजिए। महापूर्ण स्वामी की आज्ञा पाकर श्री काञ्चीपूर्ण स्वामी ने काञ्चीपुरम् आकर भगवान से पूछा कि मेरी मुक्ति होगी या नहीं? श्री वरदराज भगवान ने कहा कि अब तुम्हें भागवत अपना लिये हैं, अत: तुम्हें मुक्ति अवश्य होगी। श्री भगवान की सेवा से उनके भक्तों की सेवा का अधिक फल है तथा उसका महत्व सबसे अधिक है। इसमें पराशर-स्मृति के वचन दिये जा रहे हैं—

नात: परतरं पुण्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते।
सर्वकामप्रदं पुंसामत्यन्तातिशयं हरे:।।

●

हिन्दू धर्म अटल है

आई कितनी जाति जगत् में, आए ज्यों तूफान। धर्म अनेकों आकर मिट गए, जैसे दूध ऊफान।।
सुस्थिर, अविचल, अग्नि रहा, जन-जन का लिए सहारा। अटल रहा है अटल रहेगा, हिन्दू धर्म हमारा।।
है सजनीय सनातन मन की, है संग्राह्य सनातन धर्म। हिन्दू धर्म ही विश्व धर्म है, सभी जानते इसका मर्म।।
भरे पड़े इसमें हैं, वैज्ञानिक के बहु तथ्य। है समाज के हितकर अगणित संयम-नियम अकथ्य।।
ईश्वर पूजनादि, मन्त्रोच्चारण और गङ्गा स्नान। व्रत, उपवास, यज्ञ, तीर्थाटन, वेदाध्ययन गऊ-ज्ञान।
और अनेकानेक सुगमतर कर्म भरे इसमें हैं। 'वसुधैवकुटुम्बकम्' के भव्य-भाव किसमें है?।।
यही प्रबलतम कारण, इसकी सुस्थिरता को मानो। जिज्ञासा हो अगर तुम्हारी जान सको तो जानो।।
जन-जन की सम्मिलित शक्ति ही, है इसकी रक्षा करती। विश्व-समन्वय की सेवा हित, स्नेह भावना है भरती।।
जब तक जग में सूरज-चाँद, सितारे अमिट रहेंगे। इसकी पावनात की गाथा, बुद्ध जन कहा करेंगे।।
फूले-फले बढ़े नित पनपे, चमके सदा सितारा। यही कामना 'गंगादत्त' की यह अरमान हमारा।।

●

सत्य-सनातन हिन्दू धर्म

वैदिक, पौराणिक तथा ऐतिहासिक साङ्कल्पित एवं मैथुनी सृष्टि प्रक्रियाओं में चार वर्णों की सृष्टि का उल्लेख मिलता है। इस धरातल पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र–इन चतुर्विध वर्णों के सृजन से ही मानव का विस्तार हुआ। पूरे विश्व के मानवों का शिक्षा केन्द्र आर्यावर्त (भारत-वर्ष) ही रहा है। विश्व के समस्त मानव स्वकर्तव्य कर्म शिक्षा के लिए इसी यज्ञभूमि भारतवर्ष में ज्ञान योगियों के पास आते थे। इससे सिद्ध होता है कि विश्व के अन्दर एक ही मानवीय संस्कृति-सभ्यता के प्रचार-प्रसार तथा एक ही धर्म सूत्र में पूरा विश्व ग्रथित था। पूरे भूमण्डल पर राज्य करने वाले राजाओं की राजधानी पुण्यभूमि भारत वर्ष ही थी। राजा दशरथ, बलि, अम्बरीष आदि राजाओं के इतिहास से इसकी परिपुष्टि होती है। नारद आदि ब्रह्मर्षियों का भ्रमण धर्म प्रचारार्थ सम्पूर्ण विश्व में होता था। विश्व के अन्दर जिस धर्म की प्रतिष्ठा (मान्यता) थी उसी का नाम हिन्दूधर्म है, सिन्धु नद के निकट होने से ये हिन्दू कहलाये। वे हि सिन्धु देशवासी विश्व के सभी क्षेत्रों में फैल गये थे। इसीलिए अन्य देशों में रहते हुए भी वे हिन्दू धर्म का पालन करते थे। आज भी अमेरिका आदि देशों के मूल निवासियों को 'रेड इण्डियन' नाम से पुकारा जाता है। सिन्धु शब्द से ही हिन्दू बना है। वैदिक रीति के अनुसार अनेक वैदिक शब्द वर्णविपर्यय, वर्णागम आदि के रूपों में उच्चरित होते हैं। जैसे–सरस्वती, हृस्वती–ये दोनों सकार घटिका तथा हकार घटित शब्द समानार्थक है। इसी तरह सरित-हरित: श्री ही सीरा और हीरा में तकार की जगह पर हकार का उच्चारण हुआ है। लोक में भी हप्ताह, मास केसरी की जगह दूसरी भाषा में सप्ताह, माह और केहरी का प्रयोग होता है। पाणिनीय व्याकरण में भी अनेक जगह सकार के स्थान पर हकार का विधान मिलता है, जैसे–'त्याहौ सै' अस्य को अहादेश सेह्यंमिच्च ह एति' से सकार का हकार हो जाता है। ऐसी स्थिति में सिन्धु शब्द भी हिन्दू रूप में उच्चरित होता है। 'स' की जगह पर 'ह' का उच्चारण हुआ है। चन्द्र शब्द का पर्याय इन्दु शब्द है। चन्द्रवंशीय अपने में इन्दु या ऐन्दव की उपाधि लगाते हैं। इन्दु शब्द के अधिक प्रचलन होने से ही इन्दु में दकार घटित उच्चारण के समान सिन्धु में भी धकार की जगह दकार उच्चरित होने लगा। इसी तरह 'सि' की जगह 'हि' 'धु' की जगह 'दु' उच्चरित होने से सिन्धु वासी हिन्दू कहलाने लगे।

'नेता सिन्धूनां, सिन्धुपति क्षत्रियः सिन्धोऽ-धीक्षयत' ऋग्वेद के वचन से हिन्दू जाति के पूर्व पुरुषों को सिन्धु जाति का नेता कहा गया है। मेरुतन्त्र प्रकाश में लिखा है—

हिन्दुधर्मप्रलोप्तारो जायन्ते चक्रवर्त्तिनः ।
हीनश्च दूधयत्येव स हिन्दुरूच्यते प्रिय ।।

बार्हस्पत्य शास्त्र में लिखा है—

हिमालयं समारभ्य यावदिन्दुसरोवरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं हिन्दुस्थानं प्रचक्षते ।।

पारिजातहरणनाटक में उल्लेख है—

हिनस्ति तपसां पापं देहिकान् दुष्टमानसान् ।
हेतिभिः शत्रुवर्णाश्च स हिन्दुरभिधीयते ।।

आज विश्व क अन्दर जो अनेक धर्मों का प्रचार देखा जा रहा है, जो हिन्दू धर्म से विपरीत है। वे उन्हीं के द्वारा चलाये गये हैं, जो हिन्दू स्वकर्त्तव्य कर्म से च्युत होकर जातीय बहिष्कृत कर दिए गये थे। इसका भी श्री मनुजी ने स्पष्ट उल्लेख किया है—

सनकस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।
बृषलत्वं गते लोके ब्राह्मणानामदर्शनात् ।।

भाव यह है कि धर्मयोगियों से सम्बन्ध हट जाने के कारण हिन्दू म्लेच्छादि रूप में परिवर्तित होकर संसार के विभिन्न क्षेत्रों में फैल गये। इसी प्रकार धर्म के नाम पर नूतन मार्गों का सञ्चालन भी किया जो आज इस्लाम, ईसाई आदि धर्म रूपों में प्रचलित हैं फल यह हुआ कि धर्मग्रन्थों के आधार पर जाति निर्णय होने लगा। वेदों, पुराणों, धर्मशास्त्रों के अनुरूप आचरण करने वालों को हिन्दू, कुरान के आधार पर अपना जीवन-यापन करने वालों को मुसलमान और बाइबिल मानने वालों को ईसाई कहा जाने लगा। कुछ विचारकों ने हिन्दू को इस प्रकार परिभाषित किया है—

ॐकारमूलमन्त्राख्यः पुनर्जन्मदृढाशयः ।
गोभक्तो भारत भारतगुरुर्हिन्दुहीनत्व दूषकः ।।

अर्थात् ॐकार जिसका मूलमन्त्र हो, पुनर्जन्म में जो दृढ़-विश्वास रखता हो, गाय को पूज्य मानता हो, भारत जिसका गुरूवर हो और धर्मभ्रष्टों की जातिच्युत करने वाले हो, वह व्यक्ति हिन्दू कहा जाने योग्य है। उपर्युक्त लक्षण के अनुरूप सनातनी, आर्य समाजी सिक्ख, जैन और बौद्ध हिन्दू धर्म के ये पाँचों प्रधान शाखायें हैं, जो अपने अवान्तर भेदों के सहित हिन्दू सिद्ध हो जाती है; क्योंकि हिन्दुत्व का उपर्युक्त पाँचों विशेषताएँ समान आचार-विचार वाली उक्त पाँच शाखाओं में निर्बाध रूप से पायी जाती है। अतः लक्षण उन सब में सुतरां व्याप्त है।

●

वर-कन्या का विवाह काल-विमर्श

विवाह काल के सम्बन्ध में सूक्ष्मदर्शी विचारकों ने मनु आदि धर्म-शास्त्रों तथा शुश्रुत आदि आयुर्वेद मन्त्रों के आधार पर निर्णय किया है कि कन्या की अवस्था बारह वर्ष और पुरुष की अवस्था पच्चीस वर्ष की होने पर विचाह करें। कन्या प्रायः बारह वर्ष के बाद रजस्वला हो जाती है। विवाह से पूर्व अगर कन्या पिता के घर रजस्वला हो जाती है तो पिता विशेष अपराध का भाजन होता है। सुश्रुत आदि का कहना है कि सोलह वर्ष से कम अवस्था वाली स्त्री में पच्चीस वर्ष से कम अवस्था वाला पुरुष गर्भाधान करे तो गर्भ गिर जाता है अगर किसी तरह ठहर भी जाए तो उससे उत्पन्न पुत्र अल्पायु होता है (अधिक देर तक जीवित नहीं रहता है) यदि कुछ दिन बच भी जाए तो उसकी देह और इन्द्रियाँ शिथिल और रोगाक्रान्त होती है, अतः सोलह वर्ष से कम अवस्था की स्त्री में गर्भाधान नहीं करे। पच्चीस वर्ष का पुरुष और बारह वर्ष की कन्या का विवाह करने पर उसका पुत्र कुल, धर्म, अर्थ और काम का साधक होता है।

●

श्री अर्जुन के ध्वज में कपिचिह्न क्यों?

द्वापर के अन्त की बात है। एक दिन अर्जुन श्रीकृष्ण को साथ लिए शिकार खेलने के लिए वन में चले गए। घूमते-घूमते सुदूर दक्षिण-दिशा में जाकर बहुत से वन-जन्तुओं का शिकार किया। क्लान्त शरीर अर्जुन ने सेतु-बन्ध रामेश्वर के धनुष कोटि तीर्थ में स्थान करने के पश्चात् वहीं एक पर्वत शिखर पर साधारण वानर वेशधारी श्रीराम भजन-लीन हनुमान को देखा और पूछा कि आप कौन हैं? हनुमान ने मुस्कुराते हुए कहा जिनके प्रताप से श्रीराचन्द्र ने सौ योजन विस्तीर्ण सेतु बनाया था, मैं वही पवन-पुत्र हनुमान हूँ। हनुमान की गर्वोक्ति का उत्तर गर्वोक्ति से ही देते हुए अर्जुन ने कहा कि धनुर्धारी श्रीराम जी ने लघु आयास-साध्य बाणों का सेतु न बनाकर इतना कष्ट व्यर्थ ही उठाया।

पुन: हनुमान ने गर्व भरे शब्दों में कहा कि हम जैसे वानरों के बोझ से बाण-सेतु डूब जाता, अत: उन्होंने ऐसा नहीं किया। अर्जुन ने कहा कि हे वानरश्रेष्ठ! यदि वानरों के बोझ से बाण सेतु डूब जाए तो धनुर्विद्या की विशेषता ही क्या रही? देखो मैं अभी तुम्हारे सामने अपनी धनुर्विद्या के नमूना के रूप में एक बाण सेतु का निर्माण करता हूँ, तुम उसके ऊपर सानन्द नाचो-कूदो।

अर्जुन की गर्वमयी वाणी को सुनकर मुस्कुराते हुए हनुमान ने कहा कि हे धनुर्धारिन्! आपके द्वारा निर्मित बाण-सेतु पर नाचना कूदना तो दूर रहा वह तो मेरे अङ्गूठे का बोझ भी नहीं सह सकता। इस विवाद में दोनों ने वाजी लगा ली। यदि अङ्गूठे के बोझ से बाण-सेतु धँस जाए तो अर्जुन चिता लगाकर भस्म हो जायेगा और अङ्गूठे के बोझ से बाण-सेतु नहीं डूबा तो हम अर्जुन के रथ की ध्वजा पर विराजमान हो आजीवन उसकी सहायता करेंगे।

उसके बाद अर्जुन ने अपनी बाणों का टङ्कार किया और कुछ ही क्षण में बाण-समूह का सौ योजन विस्तीर्ण मजबूत सेतु तैयार कर दिया, जो हनुमान के अङ्गूठे के भार से ही समुद्र में डूब गया। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अर्जुन ने समुद्र तट पर ही चिता बनायी और हनुमान जी को रोकने पर भी वे उसमें जलने को उद्यत हो गए। उसी क्षण ब्राह्मण वेधधारी भगवान श्रीकृष्ण वहाँ पधारे और अर्जुन से चिताग्नि में जलने का कारण पूछा। अर्जुन से उसकी जानकारी मिलने पर उन्होंने कहा कि साक्षी के अभाव में आप दोनों का शर्तनामा सर्वथा अमान्य है। अत: मेरे सामने शर्तानुसार तुम लोग उपर्युक्त कार्य करो। तभी जय-पराजय का निर्णय होगा। ब्रह्मचारी की बात दोनों ने मान ली। फिर अर्जुन ने बाण-सेतु की रचना की। इस बार भगवान श्रीकृष्ण ने बाण-सेतु के नीचे अपना सुदर्शन-चक्र लगा दिया।

हनुमान ने इस बार अङ्गूठा ही नहीं सम्पूर्ण शरीर का बोझ देकर थक गए, किन्तु वह जौ बराबर भी नहीं डूबा। हनुमान काफी आश्चर्यचकित हुए। उन्होंने समझा कि निश्चय ही यह ब्राह्मण ब्रह्मचारी कोई सामान्य मानव नहीं भगवान श्रीकृष्ण चन्द्रजी हैं। मैंने बहुत बड़ी भूल का प्रदर्शन किया। फिर उन्हें भगवान राम का वरदान भी याद आया कि द्वापर के अन्त में मैं तुम्हें श्रीकृष्ण रूप में दर्शन दूँगा। हे हनुमान! इसी बहाने निश्चय ही भगवान ने अपना वरदान भी पूरा किया है। उसी क्षण भगवान वटु रूप को त्यागकर श्रीकृष्ण रूप में आ गये। हनुमान ने साष्टाङ्ग प्रणाम किया, भगवान ने भी उन्हें हृदय से लगा दिया। फिर श्रीकृष्ण चन्द्रजी ने अर्जुन से कहा कि तुमने श्रीराम से स्पर्धा की थी, अत: हनुमान ने तुम्हारी धनुर्विद्या को व्यर्थ कर दिया। इसी तरह हे हनुमान! तुमने भी श्रीराम से स्पर्धा की थी, अत: अर्जुन से परास्त हो गए और तुम्हारा गर्व नष्ट हुआ। तब से श्रीहनुमान भी अपनी प्रतिज्ञानुसार अर्जुन के रथ की ध्वजा पर विराजते हैं। इसीलिए अर्जुन को कपिध्वज कहा जाता है।

आत्म-कल्याण के लिए संस्कारों की अनिवार्यता

जीव महोवश चिरकाल से दुष्कर्म करते आ रहा है। जिन कर्मों का मल जीवात्मा के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित कर दिया है। जिसका फल जीव अनेक कष्टों के रूप में भोग रहा है; क्योंकि विना पाप का कष्ट होता ही नहीं। पाप ही दु:खोत्पादन में कारण माना गया है।

जीवगत पापों को दूर करने के लिए वेदों तथा त्रिकालदर्शी तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने संस्कार का विधान किया है। संस्कार का अर्थ होता है–दुर्गुणों (जीवगत मैलों) को हटाकर अच्छे गुणों को उत्पन्न कर लेना। संस्कार से जीवात्मा में उत्तम गुण आते हैं। उनके दुर्गुणों तथा पापों का नाश हो जाता है। अत एव मनु ने लिखा है—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ।।१
गार्भैहोमैर्जातकर्मचौलमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ।।२

अर्थ—द्विजातियों को वैदिक शुभपुण्यकर्मों से गर्भाधानादि संस्कार करना चाहिए। उससे पाप का क्षय होने के कारण इस लोक में वह सुखी होता है और परलोक का अक्षय अनन्त सुख प्राप्त करता है।

गर्भाधान, जातकर्म, चूड़ाकर्म, उपनयन आदि संस्कार से द्विजातियों का बीर्य तथा गर्भ का पाप नष्ट हो जाता है। संस्कारों की गणना में मतभेद है। कुछ लोगों ने ४० संस्कारों को माना है और कुछ लोगों ने ४८; परन्तु व्यास स्मृति के अनुसार १६ संस्कार ही होते हैं। ४८ एवं ४० संस्कार संख्या लिखने वालों के संस्कार सोलह संस्कार में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। अत: प्रधान सोलह संस्कार ही हैं।

सोलह संस्कार ये हैं—१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. निष्क्रमण, ७. अन्नप्राशन, ८. चूड़ाकरण (मुण्डन), ९. कर्णवेध, १०. उपनयन, ११. वेदारम्भ, १२. केशान्त, १३. समावर्तन, १४. विवाह, १५. स्मार्त अग्नि का आधान, १६. श्रौत अग्नि का आधान। अन्त्येष्टि कर्म श्रौत अग्नि साध्य है अत: उसी में आ जाता है।

१. सन्तानोत्पत्ति के लिए स्त्री संयोग से पूर्व किया गया संस्कार गर्भाधान संस्कार होता है। २. गर्भ के तीसरे मास में पुंसवन और ३. चौथे, छठे या आठवें मास में सीमन्तोन्नयन संस्कार किया जाता है। ४. सन्तान होने पर उसी समय नालच्छेदन से पूर्व जातकर्म होता है। ५. दशवें, ग्यारहवें, बारहवें दिन या किसी उत्तम समय में लड़के का नाम रखने का विधान है। उसी को नामकरण संस्कार कहते हैं। नामकरण संस्कार के समय यह ध्यान देना है कि ब्राह्मण का नाम मङ्गलार्थसूचक, क्षक्षिय का वीरतासूचक, वैश्य का सम्पन्नतायुक्त और शूद्र का नाम सेवार्थसूचक हो।

अपने-अपने आराध्यदेव के अनुसार भी नाम रखना श्रेयस्कर होता है। नारायण, राम, कृष्ण, गोविन्द, माधव, मधुसूदन आदि ऐसे नामों से उच्चारण करने वाले तथा सुनने वाले दोनों लाभान्वित होते हैं।

ब्राह्मण के नाम के अन्त में शर्मा या देव लगावे, क्षत्रिय के अन्त में वर्मा या पाल, वैश्य के अन्त में गुप्त या भूति और शूद्र के अन्त में दास लगाये।

कन्या का नाम विषम अक्षर तथा ईकारान्त या आकारान्त होना चाहिए। प्राय: लक्ष्मी, जानकी, रुक्मिणी, सुभद्रा आदि उत्तम नाम रखें।

६. सूती घर से चतुर्थ मास में बालक को बाहर निकाले, इसे निष्क्रमण कहते हैं। ७. प्रथम बार अन्न खिलाने को अन्नप्राशन कहते हैं। यह संस्कार बालक को छठे मास में और कन्या को पञ्चम मास में किया जाता है।

८. प्रथम या तृतीय वर्ष में चूड़ाकरण संस्कार होता है। चूड़ा का अर्थ चोटी या शिखा है। जन्म लेने पर शिर के सारे बाल समान रहते हैं। शिर पर शिखा भर बाल छोड़कर शेष केश कटवा दिये जाते हैं। चूड़ा (शिखा) रखने के कारण ही इस संस्कार का नाम चूड़ाकरण है। कुछ लोग चूड़ाकरण का अर्थ न जानने के कारण मुण्डन के समय सभी केशों को कटवा देते हैं।

९. कान छिदाने को कर्णवेध कहते हैं।

१०. जनेऊ दसवाँ संस्कार है। यह उपनयन, यज्ञोपवीत एवं व्रतबन्ध शब्द से कहा गया है। उपनयन का अर्थ है–आचार्य के पास जाना। आचार्य ब्रह्मचारी को वेद, वेदाङ्ग पढ़ाने के लिए ले जाते हैं या ब्रह्मचारी ही आचार्य के निकट जाता है। उपनयन के पश्चात् ही वेद-वेदाङ्ग पढ़ने का अधिकारी होता है। अत: जनेऊ को उपनयन कहते हैं। यज्ञोपवीत 'यज्ञ' और 'उपवीत'–इन दो शब्दों से बना है। उपवीत कहते हैं—उस सूत को जो बाँये कन्धे और पीठ की रीढ़ एवं नाभि से होकर दाहिनी बगल में कमर तक पहुँच जाये। यह उपवीत इसका चिह्न है कि ब्रह्मचारी आज से ही यज्ञ करने का अधिकारी हुआ है। इसी से इसे यज्ञोपवीत कहते हैं, ***'यज्ञो वै विष्णुः'*** के अनुसार यज्ञ परमात्मा का नाम है। उनकी प्राप्ति के लिए उसी दिन से लग जाता है। इसीलिए भी इसे यज्ञोपवीत कहते हैं।

व्रतबन्ध का अर्थ है—व्रतों या नियमों को करने का बन्धन। जिस दिन जनेऊ संस्कार होता है, उसी दिन से ब्रह्मचारी शास्त्रीय नियमों का नियमित पालन करता है। इसलिए जनेऊ को व्रतबन्ध भी कहते हैं।

ब्रह्म नाम है–वेद का और सूत्र कहते हैं– सूचक, चिह्न या जानने वाले को। ब्रह्मचारी का धर्म है वेदों और उसके सहायक अङ्गों को पढ़ना, यह सूचित जनेऊ से होता है। अत: जनेऊ को ब्रह्मसूत्र भी कहते हैं।

जनेऊ के समय के सम्बन्ध में शास्त्रों का कहना है कि जो ब्राह्मण अपने पुत्र में तेज की इच्छा रखता हो वह पाँच वर्ष में यज्ञोपवीत कर दे। बल चाहने वाला क्षत्रिय ६ वर्ष में और धन चाहने वाला वैश्य आठ वर्ष में जनेऊ कर दे। इसके अनुसार यज्ञोपवीत संस्कार करने के कारण ब्राह्मण ब्रह्मतेज सम्पन्न, क्षत्रिय शूर-वीर, पराक्रम सम्पन्न तथा वैश्य धनाढ्य होते थे।

साधारण नियम है कि ब्राह्मण का उपनयन गर्भ या जन्म के दिन से आठवें वर्ष में क्षत्रिय का ग्यारहवें और वैश्य का बारहवें वर्ष में करे। यदि किसी कारणवश उक्त समय में जनेऊ न दे सके तो उसके दुगूने समय में अवश्य कर दे। अर्थात् ब्राह्मण का अधिक से अधिक सोहल वर्ष तक क्षत्रिय का २२ वर्ष तक तथा वैश्य का २४ वर्ष की अवस्था तक यज्ञोपवीत कर सकता है।

इसके बाद ब्राह्मण ज्यों ही १७वें, क्षत्रिय २३वें और वैश्य २५वें वर्ष की अवस्था में प्रवेश करते हैं और उपनयन न हुआ तो वे पतित एवं व्रात्य हो जाते हैं। उन्हें प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता हो जाती है। अत: निश्चित समय पर उन्हें यज्ञोपवीत संस्कार कर देना चाहिए उक्त समय पर यज्ञोपवीत संस्कार न करने वालों के प्रति श्रीस्वामी सहजानन्द जी ने कहा है कि वह बड़ा अनर्थ है तथा महापाप करता है।

कुछ लोगों की धारणा बनी हुई है कि विवाह के समय में ही जनेऊ दिया जाता है; परन्तु यह विशेष भूल है। यज्ञोपवीत स्वतन्त्र संस्कार है।

इसका विवाह से अधिक महत्त्व है। इसका विशेष मुहूर्त्त वर्णित है। यज्ञोपवीत के लिए वर्णित मुहूर्त्त में ही यज्ञोपवीत संस्कार होना चाहिए। अगर विवाह के समय जनेऊ का मुहूर्त्त नहीं बनता हो तो उससे दस-बीस दिन पूर्व ही शुभ समय में यज्ञोपवीत कर देना चाहिए। दिन को तीन भागों में विभक्त कर प्रथम तथा द्वितीय भाग में यज्ञोपवीत संस्कार कर ले। दिन के तृतीय भाग में यज्ञोपवीत संस्कार नहीं करना चाहिए। रात्रि में जनेऊ देने में विशेष हानि होती है। अत: भूलकर भी रात्रि में जनेऊ न करे। कुछ स्वार्थी पुरोहितों ने अर्थलोलुपतावश इस संस्कार में गड़बड़ कर दिया है। सभ्य पुरुषों को उसमें सुधार लाना चाहिए।

११. उपनयन के बाद वेदारम्भ का प्रसङ्ग आता है। विश्व के समस्त चीजों का यथार्थ ज्ञान वेदों के अध्ययन से प्राप्त होता है। वेद अपौरुषेय है, ब्रह्म तथा जीव के समान अनादि तथा शाश्वत है। उसका निर्माता कोई नहीं है। परब्रह्म परमेश्वर से परम्परया वैदिक ज्ञान आज तक प्राप्त होते रहा है। वेद चार हैं–ऋक्, यजु:, साम तथा अथर्व। सामवेद को छान्दोग्य भी कहते हैं।

यजुर्वेद के दो भाग हैं–शुक्ल और कृष्ण। शुक्ल को वाजसनेयी संहिता और कृष्ण को तैत्तिरीय संहिता कहते हैं। संहिता कहते हैं–वेद के मन्त्र भाग को। मन्त्र भाग से अवशिष्ट वेद को ब्राह्मण कहते हैं। वेद अनेक शाखाओं के रूप में विभक्त है। सामवेद की १००० शाखाएँ, यजुर्वेद की १०१, ऋग्वेद की २० और अथर्ववेद की ९ शाखाएँ हैं; परन्तु इस समय सब शाखाएँ उपलब्ध नहीं हैं। सामवेद की राणायणीय और कौथुमीय प्राय: ये दो शाखाएँ प्रसिद्ध हैं। उत्तर भारत में कौथुमीय शाखा उपलब्ध है। इसी प्रकार यजुर्वेद की काण्डव और माध्यन्दिनी ये दो शाखाएँ प्रसिद्ध हैं। इनमें भी विशेष रूप से माध्यन्दिनीय शाखा है। गोत्र के अनुसार वेद तथा शाखाएँ होती हैं। गोत्र प्रवर्तक मन्त्र द्रष्टा ऋषि हुए हैं। जो ऋषि जिस शाखा का विशेष प्रचार किये उनके नाम से वह शाखा प्रसिद्ध हुई। जैसे कुथुम ऋषि ने जिस शाखा का विशेष प्रचार किया वह कौथुमीय कहलाती और माध्यन्दिन ऋषि ने जिसका प्रचार किया वह माध्यन्दिनीय है। इसी प्रकार अन्य शाखाओं को भी समझना चाहिए।

उत्तर भारत में प्राय: सामवेदी और यजुर्वेदी हैं। कश्यप, काश्यप, वत्स, शाण्डिल्य, कौशिक और धनञ्जय–ये छ: गोत्र वाले सामवेदी होते हैं। इनकी शाखा कौथुमीय है। शेष लोग (इनसे अन्य गोत्र वाले) प्राय: यजुर्वेदी होते हैं। इनकी शाखा माध्यन्दिनीय है। जिसकी जो शाखा है उसके अनुसार कर्मकाण्ड होता है। अथर्ववेदियों का कर्मकाण्ड प्राय: यजुर्वेद के अनुसार होता है। अपना वेद तथा शाखा का ज्ञान कराने के लिए वेदारम्भ संस्कार किया जाता है। उस समय अपना-अपना वेद का प्रथम मन्त्र पढ़ाया जाता है।

१२. सोलहवें वर्ष में दाढ़ी-मूँछ बनवाने का विधान है इसे ही केशान्त कहते हैं।

१३. वेद पढ़ चुकने के बाद गुरु के यहाँ से विदा होना समावर्तन संस्कार कहलाता है।

१४. सात पाक यज्ञ स्मार्त अग्नि में किये जाते हैं। एतदर्थ स्मार्त अग्नि का आधान होता है।

१५. सात हविर्यज्ञ और सात सोम यज्ञ श्रौत अग्नि में किये जाते हैं। उसके लिए श्रौत अग्नि का आधान करते हैं।

१६. विवाह गार्हस्थ्य जीवन का एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है। सजातीय, असगोत्रीय स्त्री-पुरुषों से उत्पन्न पुत्र अध्यात्मवादी, देशहितचिन्तक तथा कर्त्तव्य-परायण होता है।

आध्यात्मिक सज्जनों का कर्त्तव्य है कि अपने तथा अपनी वंश परम्परा को सुसंस्कृत बनाकर लौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक श्रेय का भाजन बनें।

श्रीरामावतार का रहस्य

श्रीरामः शरणं समस्त जगतां रामं विना का गति,
रामेण प्रतिहन्यते कलिमलं रामाय कार्यं नमः ।
रामात्रस्यति काल भीम भूजगो रामस्य सर्वं वशे,
रामे भक्तिरखण्डिता भवतु मे रामत्वमेवाश्रयः ।।

समस्त ब्रह्माण्ड परमात्मा का शरीर है। उसमें अयोध्या और मथुरा ये दोनों भगवान के हृदय हैं। अयोध्या के राजा श्री दशरथ जी थे। वे महान पराक्रमी, धर्मज्ञ और अध्यात्मवादी थे। उनकी तीन रानियाँ प्रधान थी–कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी। साठ हजार वर्ष तक राज्य करने के बाद भी उन्हें किसी से पुत्र प्राप्त नहीं हुआ। तब राजा दशरथ को पुत्र की चिन्ता हुई। उन्होंने श्री वसिष्ठ जी आदि से पुत्र प्राप्ति के लिए अवश्वमेध-यज्ञ करने का परामर्श लिया। श्री वसिष्ठ जी प्रभृति ने सहर्ष समर्थन किया। उसी समय मन्त्री सुमन्त जी ने एकान्त में राजा से कहा कि मैं सनकादियों से पौराणिक कथा सुनते समय सुना हूँ कि अङ्गदेश के राजा का दामाद ऋष्यशृङ्ग अपनी पत्नी के साथ अयोध्या में पुत्रेष्टि यज्ञ करायेंगे उससे राजा दशरथ को चार पुत्र प्राप्त होंगे। तदनन्तर राजा दशरथ अङ्गदेश में जाकर पत्नी सहित ऋष्यशृङ्ग को समादर-पूर्वक अयोध्या लाये।

तत्पश्चात् राजा दशरथ ने पुत्र प्राप्ति के लिए प्रथम अश्वमेध यज्ञ किया जिसका पौरोहित्य श्री वसिष्ठ जी थे। अश्वमेध यज्ञ में ब्रह्मादि देवों की आराधना होती है, उससे पुत्र उत्पत्ति के विरोधी समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं।

पुत्रेष्टि यज्ञ में साक्षात् नारायण की आराधना होती है। इसलिए यह यज्ञ पुत्र प्राप्ति में प्रत्यक्ष कारण है। अत एव अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न होने पर राजा दशरथ ने ऋष्यशृङ्ग से पुत्रेष्टि यज्ञ कराने के लिए प्रार्थना की।

परम मेधावी एवं वैदिक ज्ञान-सम्पन्न महात्मा ऋष्यशृङ्ग ने थोड़ी देर ध्यान लगाकर अपने भावी कर्त्तव्य का निश्चय किया। तदनन्तर उन्होंने राजा से कहा कि आपको पुत्र प्राप्ति के लिए अथर्ववेद के मन्त्रों से पुत्रेष्टि यज्ञ कराऊँगा। उससे अवश्य पुत्र प्राप्त होगा। विभाण्डक कुमार शृङ्गी ने पुत्रेष्टि यज्ञ प्रारम्भ किया। वैदिक विधि के अनुसार अग्नि में आहुति डाली गयी। उस यज्ञ में देवता, गन्धर्व, सिद्ध तथा महर्षियों को भाग मिला और वे सब लोग वहाँ उपस्थित हुए। रावण के उपद्रव से उन लोगों में अन्तर्वेदना थी। अत एव उस यज्ञ के अवसर पर उपस्थित देवों ने ब्रह्मा से कहा कि आपके वरदान से शक्तिशाली बनकर महा अभिमानी रावण हम सब लोगों को महान कष्ट दे रहा है। हम देवों में इतनी शक्ति नहीं है कि अपने पराक्रम से रावण को दबा सके। वह तीनों लोकों के प्राणियों को कष्ट दे रहा है।

देवों के वचन सुनकर ब्रह्मा ने कहा कि रावण ने देव, गन्धर्व, यज्ञ और राक्षस से मेरी मृत्यु नहीं हो ऐसा वरदान माँगा है और मैंने उसे दे दिया है। वह मनुष्यों को तुच्छ तथा अपना खाद्य समझकर उनसे अबध्य होने का वरदान नहीं माँगा है। इसलिए मनुष्य के हाथों से ही रावण की मृत्यु हो सकती है। यह वचन देवों तथा महर्षियों को प्रिय लगा। जब सभी देवों ने यह स्वीकार कर लिया कि अपने पराक्रम से हमलोग रावण को दबा नहीं सकते हैं। पश्चात् उस पुत्रेष्टि यज्ञ में भगवान विष्णु के लिए आवाहन मन्त्र बोला गया।

परमदयालु भक्तवत्सल भगवान विष्णु जो विश्व के अणु-अणु में व्याप्त हैं समदर्शी तथा सर्वान्तर्यामी

हैं। जो भक्त द्वारा रक्षा की अपेक्षा करने पर अविलम्ब उनकी रक्षा करने के लिए आ जाते हैं। वे यहाँ साधुओं का परित्राण दुष्टों का विनाश धर्म की स्थापना तथा यज्ञ में अराधना करने वाले राजा दशरथ के मनोरथ को अवतार लेकर पूर्ण करने की इच्छा से अपने चक्रादि आयुधों के साथ सभी देवों के समक्ष प्रकट हो गये।

यद्यपि सर्वेश्वर भगवान विष्णु सर्वज्ञ एवं प्राणी मात्र पर करुणा करने वाले हैं। संसार में कहाँ कौन किसको कष्ट दे रहा है यह सब भी वे जानते हैं। तथापि बिना भक्तों द्वारा रक्षा की अपेक्षा किये नहीं आते हैं। भक्तों पर उनकी कृपा तभी होती है। जब भक्त उनकी अपेक्षा करता है। संसार तन्त्र को चलाने के लिए भगवान अपेक्षा रूप नियम का पालन करते हैं। समस्त जगत् के स्वामी वैकुण्ठनाथ भगवान विष्णु चतुर्भुज थे। अपने हाथों में चक्र, शङ्ख, गदा और पद्म धारण किये हुए थे। शरीर का वर्ण घने मेघ के समान था। शरीर पर पीताम्बर सुशोभित हो रहा था। तप्त स्वर्ण निर्मित केयूर, बाजूबन्द आदि विविध आभूषणों से वे विभूषित थे। सिर पर काले-काले घुँघराले बाल थे। उस पर अमूल्य रत्न मुकुट धारण किये हुए थे। गले में कौस्तुभ मणि थी। छाती पर श्रीवत्स का चिह्न था। करोड़ों कामदेवों को लज्जित कर देने वाली शरीर की कान्ति थी। मुख पर कमल की अपूर्व शोभा थी। उनके मन्द-मन्द मुस्कान से भक्तों को मन मोहित हो रहा था। वे वेदात्मा दिव्य गरुड़ वाहन पर आरुढ़ होकर यज्ञस्थल में देवों के समक्ष उपस्थित हुए।

भगवान विष्णु को समस्त देवताओं ने साष्टाङ्ग प्रणाम किया। तदनन्तर ब्रह्मा ने भगवान को देवसभा में बैठाया। तदनन्तर देवों ने प्रेम भरे शब्दों से भगवान का स्तवन करके उनसे कहा कि हे सर्वव्यापी सर्वेश्वर! हम सब तीनों लोकों के हित की कामना से आपके ऊपर एक महान कार्य का भार दे रहे हैं। अर्थात् आप स्वयं शरणागतों के रक्षण में तत्पर रहते हैं, इसका समरण मात्र करा रहे हैं। अयोध्या के राजा दशरथ धर्मज्ञ, उदार एवं परम तेजस्वी हैं। उनकी तीन रानियाँ हैं जो कि ह्री, श्री और कीर्ति– इन तीन दक्ष-कन्याओं के समान हैं। आप राजा दशरथ की तीनों रानियों के गर्भ में चार स्वरूप धारण कर उनके पुत्र रूप में अवतार ग्रहण करें। आप मानव रूप धारण कर संसार के लिए महान कंटक रूप रावण को युद्ध में बध करें? रावण हम देवों से अवध्य हैं। आप जगत् के स्वामी हैं। देवद्रोहियों का वध करने के लिए मानव रूप में आप अवतार ग्रहण करें।

विष्णो पुत्रत्वमागच्छ कृत्वाऽऽत्मानं चतुर्विधम्।
तत्र त्वं मानुषो भूत्वा प्रवृद्धं लोककण्टकम्।
अवध्यं देवतैर्विष्णो समरे जहि रावणम्।।
(वा०रा०)

संसार को महान कष्टों से बचाने वाले एकमात्र भगवान विष्णु ही हैं, जब विषम परिस्थिति आती है, तब सब देवता त्राहि-त्राहि करके भगवान विष्णु की शरण ग्रहण करते हैं। उन्हें कहना पड़ता है कि हम देव इस कार्य में असमर्थ हैं। सारे रुद्रादि देवों में जगत् के कण्टकरूप रावण-वध की शक्ति नहीं है। अगर शक्ति होती तो वे ही मानव शरीर धारण कर रावण का वध कर देते। अत एव देवगण भगवान विष्णु से कहते हैं कि हम सब देवता आपकी शरण में आये हुए हैं। रावणादि महान शत्रुओं के वध का सामर्थ्य आप में ही हैं। शरणागति रूप विशेष धर्म से भगवान विष्णु शीघ्र प्रसन्न होते हैं। इसलिए देवताओं को शरणागत समझकर भगवान विष्णु आश्वासन देते हैं कि तुमलोग भय त्याग दो। तुम्हारे हित के लिए मैं मानव-रूप धारण कर रावण को पुत्र, पौत्र, मन्त्री, बन्धु-बान्धवों सहित युद्ध में मारकर ग्यारह हजार वर्षों

तक पृथवी का पालन करता हुआ मनुष्य लोक में वास करूँगा।

भगवान के अवतार का उद्देश्य है–जगत् में दुष्टों का विनाश एवं धर्म की स्थापना।

रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद, गन्धर्वादि तथा लवणासुर–इन चार प्रकार के दुष्टों का संहार, सत्य-वचन आदि सामान्य धर्म भगवत शेषत्व रूप विशेष धर्म, भगवत्पारतन्त्र्य रूप विशेषतर धर्म और भागवत शेषत्व रूप विशेषतम धर्म की शिक्षा प्रदानार्थ चार रूपों में भूतल पर अवतार लेने के लिए भगवान विष्णु से देवों ने प्रार्थना की है।

भगवान विष्णु ने देवों को आश्वासन देकर ऋष्यशृङ्ग एवं वसिष्ठ आदि मुनियों के कार्य एवं वचन को सत्य करने के लिए अयोध्यारूपी दिव्यपुरी में जन्म-स्थल और जिस कुल में मनु के समय से भगवान रङ्गनाथ की उपासना होती आयी है, उस परम पवित्र श्री वैष्णवकुल में उत्पन्न राजा दशरथ को पिता बनाने का निश्चय किया।

तदनन्तर भगवान विष्णु देवताओं से पूजित हो अन्तर्धान हो गए।

पुत्रेष्टि यज्ञ हो रहा था। अग्निकुण्ड में आहुतियाँ डाली जा रही थी। उसी समय अग्निदेव एक पुरुष के रूप में कुण्ड से प्रकट हो गए। उनके अङ्ग की कान्ति काले रंग की थी। उनके शरीर पर लाल वस्त्र सुशोभित हो रहे थे। उनके हाथ में स्वर्ण की परात में खीर थी, जो चाँदी के ढक्कन से ढकी हुई थी। अग्निदेव ने राजा दशरथ को यह कहकर खीर दिया कि यह देव-निर्मित पायस सन्तान देने वाला तथा आरोग्य और धनदायक है। यहाँ देव निर्मित का अर्थ है–भगवान विष्णु के द्वारा निर्मित। पुन: अग्निदेव ने राजा से कहा कि यह खीर अपनी पत्नियों में यथा योग्य बाँटकर खाने का आदेश दे दें। उसे खाने से रानियों के गर्भ से आपको अनेक पुत्र प्राप्त होंगे। राजा दशरथ ने अग्निदेव के हाथ से खीर का पूर्ण पात्र लेकर अपने शिर पर रखा और अग्निदेव को प्रणाम करके उनकी परिक्रमा की। तदनन्तर अग्निदेव अन्तर्धान हो गए।

राजा दशरथ हर्षोल्लास के साथ महल में गये और सभी रानियों को बुलाकर खीर का विभाजन करने लगे। उन्होंने खीर का आधा भाग ज्येष्ठ पत्नी होने के कारण कौसल्या को दिया। पुन: आधा को दो भाग करके एक भाग (चतुर्थांश) मध्यमा पत्नी सुमित्रा को दिया और शेष चतुर्थांश खीर को दो भाग करके एक भाग (अष्टमांश) तृतीय पत्नी कैकेयी को दिया। शेष जो अष्टमांश था, उसे पुन: सुमित्रा को दे दिया। पायस (खीर) का विभाजन में न्यूनाधिक्य एवं पूर्वापर का विचार ज्येष्ठा, मध्यमा एवं कनिष्ठा की दृष्टि से किया गया है। सभी रानियों ने राजा के हाथ से खीर प्राप्त कर अपना सम्मान समझा। सबों के चित्त में अत्यन्त आनन्द छा गया, खीर खाकर सभी रानियाँ गर्भवती हुई, रानियों के गर्भ धारण में पति के शुक्र-शोणित कारण नहीं है, प्रत्युत पायस के परिणामस्वरूप गर्भ धारण हुआ है। पायस-भक्षण के बाद ही तीनों रानियाँ गर्भवती हुई हैं। रानियों के गर्भ की वृद्धि अन्न-पानादि से नहीं हुई है, अपितु भगवान की इच्छा से हुई है। यह निर्णय भूषण टीकाकार श्री गोविन्दराज जी ने किया है।

पुत्रेष्टि-यज्ञ समाप्त होने पर बारहवें मास में चैत्र शुक्ल पक्ष नवमी तिथि पुनर्वसु नक्षत्र एवं कर्क लग्न में सर्वलोक वन्द्य जगदीश्वर, दिव्य लक्षणों से युक्त श्रीराम कौसल्या के गर्भ से प्रकट हुए—

प्रयोद्यमाने जगन्नाथं सर्वलोकनमस्कृतम्।
कौसल्या जनयद्रामं दिव्यलक्षणसंयुतम्।।
(वा०रा०)

उस समय सूर्य, मङ्गल, शनि, गुरु और शुक्र–ये पाँच ग्रह उच्च स्थान में थे। लग्न में

चन्द्रमा के साथ वृहस्पति बैठे हुए थे। श्रीराम खीर के आधे भाग से प्रकट हुए।

जन्म-काल में एक ग्रह के उच्च स्थान में रहने पर जातक के समस्त अरिष्ट का नाश होता है। दो ग्रह उच्च स्थान में रहने पर जातक महिपति बनता है, चार ग्रह उच्च स्थान में रहने पर सम्राट् बनता है और पाँच ग्रह उच्च स्थान में रहने पर लोक-नायक होता है। सूर्य के उच्च स्थान में रहने पर सेनापति, मङ्गल के उच्च स्थान में रहने पर वन का राजा, गुरु के उच्च स्थान में रहने पर धनी, शुक्र के उच्च स्थान में रहने पर राजा एवं शनि के उच्च स्थान में रहने पर जातक राजाधिराज होता है।

कैकेयी के गर्भ से सत्य पराक्रमी एवं समस्त सद्‌गुणों से युक्त पुष्य नक्षत्र एवं मीन लग्न में भरत जी का जन्म हुआ। सुमित्रा से लक्ष्मण और शत्रुघ्न जी का जन्म हुआ। ये दोनों अश्लेषा नक्षत्र एवं कर्क लग्न में जन्म लिये थे। उस समय सूर्य अपने उच्च स्थान मेष राशि पर थे। राम के जन्म के समय गन्धर्वों का मधुर गीत हो रहा था, अप्सरायें नृत्य कर रही थीं, देवताओं की दुन्दुभियाँ बजने लगी और आकाश से फूलों की वर्षा होने लगी। दर्शकों की बहुत भीड़ एकत्र हुई, गलियाँ और सड़के खचाखच भर गई थी। नट और नर्तक अपनी कला दिखला रहे थे। सर्वत्र गायकों एवं वाद्यकों की मधुर ध्वनि गूँज रही थी। दीन-दु:खियों के लिए धन (रत्नादि) लुटाये जा रहे थे। राजा दशरथ ने सूत, मागध और बन्दीजनों को यथायोग्य पुरस्कार दिया तथा वैदिक ब्राह्मणों के लिए धन एवं सहस्रों गोदान किया। इस तरह अयोध्या में बहुत बड़ा उत्सव मनाया गया।

अमित तेजस्वी पुत्र से कौसल्या को महान आनन्द मिला तथा उनसे वह वैसे ही विशेष सुशोभित हुई जैसे वज्रपाणि इन्द्र से देवमाता अदिति सुशोभित हुईं थीं।

अथवा जैसे अदिति के गर्भ से परतत्त्व चिह्न रेखामय वज्र से युक्त उपेन्द्र (वामन) भगवान प्रकट हुये थे और उससे अदिति सुशोभित हुई थी, उसी प्रकार श्रीराम से कौसल्या जी सुशोभित हो रही है। श्रीराम के चरणों में परतत्त्वबोधक ये चिह्न थे—चक्र, ध्वज, अङ्कुश, वज्र, कमल, कल्पवृक्ष, क्षत्र और शङ्ख। ये एक मात्र परमब्रह्म के चरणों में ही रेखामय चिह्न होते हैं। अत: ये चरण चिह्न परतत्त्व के बोधक हैं।

भगवान अपने दाहिने पैर के अङ्गूठे की जड़ में शरणागतजनों के संसार बन्धन से नाश करने के लिए चक्र का चिह्न धारण करते हैं। मध्यमा अङ्गुली के मध्य भाग में भक्तों के चित्तरूपी भ्रमर को लुभाने के लिए अत्यन्त सुन्दर कमल का चिह्न धारण करते हैं। वही कमल के नीचे समस्त अनर्थों को परास्त करने वाली विजय ध्वजा का चिह्न है। कनिष्ठा अङ्गुली की जड़ में वज्र का चिह्न है। यह भक्तों के पापराशि को विदीर्ण करने वाला है। पैर के बीच में अङ्कुश का चिह्न है। वह भक्तों के चित्तरूपी हाथी का दमन करने वाला है। भगवान नारायण अपने अङ्गुठे के पर्व में भोग सम्पत्ति के प्रतीकभूत यव का चिह्न धारण करते हैं। उनके मूल भाग में गदा की रेखा है, जो समस्त जीवों के पापरूपी पर्वत को चूर्ण कर देने वाली है। अन्य चिह्नों को भगवान सम्पूर्ण विद्याओं को प्रकाशित करने के लिए धारण करते हैं। करुणानिधान भगवान् श्रीमन्नारायण के दाहिने पैर में जो-जो चिह्न हैं, उन्हीं-उन्हीं चिह्नों को वे बाये पैर में भी धारण करते हैं। जैसे पूर्वजन्म में अदिति के अनुष्ठित व्रत से विष्णु भगवान पुत्ररूप में प्राप्त हुये थे उसी प्रकार कौसल्या जी पूर्वजन्म में कृत तप के प्रभाव से विष्णुस्वरूप भगवान श्रीराम को प्राप्त कर आनन्दित हो रही हैं। श्रीवाल्मीकि ने जन्मकाल में श्रीराम के लिए तीन विशेषण दिया है—जगन्नाथं, सर्वलोक-

नमस्कृतम् और दिव्यलक्षणसंयुतम्। ये तीनों विशेषण श्रीराम को साक्षात् विष्णुस्वरूप सिद्ध कर रहे हैं। देवों ने मनुष्यरूप में आने के लिए प्रार्थना की थी। इसलिए अवतारकाल में चतुर्भुज स्वरूप की चर्चा महर्षि वाल्मीकि ने नहीं की है। उन्होंने केवल इतना ही कहा कि समस्त लोकबन्ध जगन्नाथ दिव्य लक्षण से युक्त होकर प्रकट हुए।

श्रीराम भगवान विष्णु के अवतार थे, जिन शेष शय्या पर भगवान विष्णु शयन करते हैं। वे ही शेष जी लक्ष्मण रूप में भूतल पर प्रकट हुए। भगवान विष्णु के बाँये हाथ में शङ्ख है। श्री भरत जी उन्हीं के अवतार हैं और उनके दाये हाथ में सुदर्शन-चक्र है, जो शत्रुघ्नरूप में अवतरित हुए हैं। शेष, शङ्ख और चक्र भगवान् विष्णु के विशेषण होने से अंश हैं और भगवान विष्णु अंशी हैं।

शेषस्तु लक्ष्मणो राजन् राममेवान्वपद्यत।
जातौ भरतशत्रुघ्नौ शङ्खचक्रे गदाभृतः।।

(अ०रा०)

◆

मृत्युपर्यन्त ब्रह्म की उपासना करे

पाराशर्यवचस्सुधामुपनिषद्दुग्धाब्धिमध्योद्धृतां
संसाराग्निविदीपनष्यपगतप्राणात्मसञ्जीवनीम्।
पूर्वाचार्यसुरक्षितां बहुमतिव्याघातदूरस्थिता-
मानीतान्तु निजाक्षरैस्सुमनसो भौमाः पिबन्त्वन्वहम्।।

'फलमत उपपत्तेः' ब्रह्मसूत्र ३.२.३७ के विवेचन से सिद्ध है कि लौकिक तथा पारलौकिक दोनों फलों की प्राप्ति परम पुरुष परमेश्वर से ही होती है।

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकामः उदारधीः।
तीव्रेण भक्ति योगेन यजेत् पुरुषं परम्।।

श्रीमद्भागवत भी यही निर्णय देता है कि किसी फल की चाह नहीं हो अथवा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–इन सब फलों की चाह हो तो या केवल मोक्ष चाहता है तो अनन्य भक्ति से परम पुरुष परमेश्वर की उपासना करे।

जगत् में चार प्रकार के पुरुषार्थ हैं–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, अर्थ और काम धर्मानुकूल होने पर लाभप्रद होता है और धर्म वही है जिसके पालन से भगवान के चरणों में प्रीति हो—

सवै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्ष जे।

भागवत दो श्रेणी के होते हैं–बुभुक्षु और मुमुक्षु। बुभुक्षु का अर्थ है–संसार के भोगों की इच्छा रखने वाला और मुमुक्षु का अर्थ है संसार के विषयों से मन को मोड़कर भगवत् प्राप्ति में लगा देना। बुभुक्षु संसार के विषयों की प्राप्ति के लिए भी भगवान की उपासना करता है। तब तक प्रभु से प्रेम करता है। जब तक उसे सांसारिक फल प्राप्त नहीं हो जाता है। अर्थ-काम प्राप्त हो जाने पर भगवान को भूल जाता है। इसलिए भगवान ने उन लोगों को उदार कहा है। जो मुमुक्षु व्यक्ति हैं, अर्थात् संसार के कष्टों से मुक्त होकर भगवान को प्राप्त कर लेना चाहते हैं। उनके लिए भगवान की उपासना एक मात्र कारण हैं, इसमें निम्नलिखित उपनिषद् मन्त्र प्रबल प्रमाण है—

'ब्रह्मवेद ब्रह्मवै भवति' अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म के समान हो जाता है। ***'ब्रह्मविदाप्नोति परम'*** अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। ***'यदा पश्यः पश्यते रूक्मवर्णाः'*** स्वर्ण वर्ण के समान कान्ति वाले भगवान को देखने वाला भगवान को प्राप्त करता है। इन मन्त्रों में वेदन शब्द आया है जिसका अर्थ उपासना है।

संशय प्राप्ति के साधन रूप से जिस वेदन

(उपासना) का विधान बतलाया गया है वह उपासना ब्रह्म को एक बार करे अथवा बार-बार। पूर्वपक्ष– 'ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है' इस वाक्य में एक बार ही वेदन (उपासना) का विधान बतलाया गया है, इसलिए एक बार ही उपासना करनी चाहिए।

बार-बार उपासना की आवृत्ति का प्रमाण नहीं मिलता है। वेदन (उपासना) ऐसा कोई प्रत्यक्ष उपाय तो है नहीं, जिससे कि प्रत्यक्ष ब्रह्म में उसे बार-बार स्पर्श कराया जा सके, ब्रह्म और वेदन (उपासना) दोनों ही परोक्ष है जो एक बार ही करे। ज्योतिष्टोमादि यज्ञ और वेदान्त विहित वेदन (उपासना) दोनों ही परम पुरुष के अराधनारूप उपाय हैं। अत: ज्योतिष्टोमादि की तरह उपासना भी एक ही बार करनी चाहिए।

सिद्धान्त—श्री वेदव्यास जी ने ***'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'*** (४.१.१)।

इस ब्रह्मसूत्र से उपासना के सम्बन्ध में सिद्धान्त बताया है कि असकृत् (बार-बार) उपासना करनी चाहिए; क्योंकि ध्यान, उपासना ये वेदन शब्द का पर्यावाची है।

वेदन उपदेश परक वाक्यों में वेदन ध्यान और उपासना एक ही अर्थ में प्रवृत्त हुए हैं। ध्यान और चिन्तन समानार्थक हैं। प्रवाहमयी स्मृति को ही चिन्तन कहते हैं। एकान्त चित्तवृत्ति और निरन्तर दोनों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया है। इसलिए—

ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति', 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापै:' इन उपनिषद् वाक्य में वेदन आदि शब्द निरन्तर स्मृतिरूप अर्थ का ही बोधक है। स्मृति में भी वेदन शब्द का प्रयोग किया गया है। मोक्ष की साधन रूप प्रवाहमयी स्मृति को ही स्मृति शास्त्र में वेदन कहा गया है।

'आप्रयाणान्तत्तापि हि दृष्टम्' (४.१.१२)।

इस मोक्षाध्याय के १२वें ब्रह्मसूत्र से श्री व्यास जी ने निर्णय दिया है कि मृत्युपर्यन्त भगवान की उपासना करनी चाहिए। साधक जब से उपासना प्रारम्भ करें तब से मृत्युपर्यन्त करता रहे।

'स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमपि सम्पद्यते'। यह उपनिषद् मन्त्र जीवन भर ब्रह्म की उपासना का आदेश दिया है। जब तक ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो जाय तब तक प्रीतिपूर्वक भगवान की पूजा करे। निरन्तर भगवान का स्मरण भी पूजन है।

श्रीमद्भगवती गीता कहती है कि अन्तिम स्मरण के अनुसार मनुष्य की गति होती है। भगवत्स्मरण करता हुआ शरीर त्यागने वाला भगवत लोक में जाता है। अन्तकाल का स्मरण पूर्वाभ्यास के अनुसार होता है। जो व्यक्ति भगवान का पूजन, कीर्तन, भजन तथा स्मरण आदि कभी नहीं करता है, उसे अन्तिम समय में भगवत्स्मरण होना सम्भव नहीं है। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—जीवन में सदा मेरा स्मरण, चिन्तन, भजन करते रहना आवश्यक है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्य संशयम्।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।।

अदि गीता वचन के द्वारा मृत्युपर्यन्त भगवदुपासना अनिवार्य कही गयी है।

श्रीभाष्य के जिज्ञासा अधिकरण में श्रीभाष्यकार स्वामी ने लिखा है—तैल धारा की तरह अखण्ड प्रवाहमयी स्मृति परम्परा ही ध्यान है। 'स्मृति के आश्रय से हृदयस्थ समस्त ग्रन्थियाँ भङ्ग हो जाती हैं'।

'सिद्धन्तूपासनशब्दात्' इस सूत्र से 'वेदन' की

प्रवाहमयी आवृत्ति का मोक्ष साधन के रूप में निर्णय किया गया है। तथा ***'उपासनस्याद् ध्रुवानुस्मृतिर्दर्शनान्निर्वचनाच्च'*** इस सूत्र से उस उपासना रूप वेदन की प्रवाहमयी आवृत्ति को ध्रुवा स्मृति बतलाया गया है। जैसे–स्त्री, पुत्र, धन आदि का हृदय में संस्कार सबल हो जाता है। उसे सामने न रहने पर भी देखने के समान प्रतीत होता है। प्रबल संस्कार वश लगता है कि उसे हम देख रहे हैं। उसी प्रकार साधक भगवान का ध्यान करके उनके स्वरूप का दृढ संस्कार बना लेता है तो उस व्यक्ति को लगता है कि भगवान हमारे सामने खड़े हैं। उसे ही दर्शन समानाकार कहते हैं।

●

श्रीस्वामी पराङ्कुशाचार्य जी का संक्षिप्त जीवन-वृत्त एवं महाप्रयाण

श्रीस्वामी पराङ्कुशाचार्य जी महाराज का प्रादुर्भाव पटना जिला के अन्तर्गत विक्रम थाना, महमदपुर ग्राम में १९२१ सम्वत् फाल्गुन शुक्ल त्रयोदशी को हुआ था। उनके पिता का नाम रामधनी शर्मा था। उन्होंने नामकरण संस्कार के समय अपने पुत्र का नाम पारसनाथ रखा, श्री पारसनाथ जी बड़े तीक्ष्ण बुद्धि के थे। वे कुछ काल में ही विद्यालयीय शिक्षा प्राप्त कर लिये थे। एक बार श्रीराजेन्द्रसूरि जी महाराज (तरेत स्थानाधीश) महमदपुर लक्ष्मी-नारायण मन्दिर में आये हुये थे। श्रीपारसनाथ जी सङ्गीत में विशेष अभिरुचि रखते थे। उनके गलाका माधुर्य से लोग मुग्ध हो जाते थे। वे बालकों के साथ श्रीलक्ष्मी-नारायण मन्दिर में गये। उन्होंने श्रीराजेन्द्रसूरि जी महाराज के समीप बैठकर भक्तिमय एक सरस पद गाया। उससे उनके प्रति श्रीराजेन्द्रसूरि जी महाराज का विशेष ध्यान चला गया। उसी समय श्रीराजेन्द्रसूरि जी महाराज ने उन्हें पञ्च-संस्कारपूर्वक वैष्णवी दीक्षा दे दिया और पारसनाथ की जगह उन्हें पराङ्कुश नाम दे दिया।

कुछ काल बाद श्रीपराङ्कुशाचार्य जी महाराज विशेष रुग्न हो गए। उनकी माँ उनको देखकर रोती रहती थी। संयोग से राजेन्द्रसूरि जी महाराज पुनः महमदपुर पधारे, उन्हें यह बात ज्ञात हो गयी की जो मुझे सङ्गीत सुनाता था और जिसे मैंने दीक्षा दी थी, वह वैष्णव विशेष रोग-ग्रस्त हो गया है। श्रीसूरि जी महाराज उन्हें देखने के लिए उनके घर चले गये। उन्होंने आशीर्वाद दिया। तदनन्तर श्रीस्वामी पराङ्कुशाचार्य जी ने अपनी माँ से कहा कि मुझे तरेत स्वामी जी महाराज की सेवा में सतत रहने की अनुमति दे दो तो, मैं निरोग हो जाऊँगा। उनकी माँ ने कहा कि कब ऐसा सौभाग्य होगा कि तुम स्वस्थ होकर श्रीस्वामी जी की सेवा में लग जाओगे। मैं आशीर्वाद देती हूँ कि तुम स्वस्थ होकर उनकी सेवा में चले जाना। माँ का आदेश मिलते ही श्री पराङ्कुशाचार्य जी का रोग घटने लगा। कुछ दिनों में ही वे पूर्ण स्वस्थ होकर श्रीराजेन्द्रसूरि जी की चरण-कमलों की सेवा में उपस्थित हो गये। पूर्ण श्रद्धा और विश्वास के साथ श्रीस्वामी पराङ्कुशाचार्य जी महाराज अपने गुरुदेव की सेवा करने लगे। गुरु की निष्कपट सेवा से ही श्रीपराङ्कुशाचार्य जी महाराज गुरु के विशेष कृपा-पात्र बन गये।

श्रीगुरु पद नखमनिगन जोती ।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती ।।

के अनुसार श्रीस्वामी जी महाराज गुरुकृपा से समस्त शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लिये थे। वे ज्योतिष, आयुर्वेद, वेदान्त, धर्मशास्त्र आदि का पूर्ण मर्मज्ञ हो गए। उनमें अपूर्व प्रतिभा थी, वे किसी भी प्रश्न का समाधान शीघ्र कर देते थे। श्रीस्वामी पराङ्कुशाचार्य जी महाराज भगवान के चरण-कमलों एवं गुरु परमहंस स्वामी के पाद पद्मों में इतने अनुरक्त हो गये कि उन्हें संसार के सभी विषय तृणवत् प्रतीत होने लगे, जैसे कमल पुष्प का पराग पान करने वाला भौरा क्षुद्र पुष्प रस की ओर नहीं जाता, उसी प्रकार श्रीस्वामी पराङ्कुशाचार्य जी महाराज अपने गुरुचरण कमल की सेवा में संलग्न होने के कारण संसार के विषयों से पूर्ण विरक्त हो गये। उन्होंने निश्चय किया कि जैसे हमारे गुरुदेव परमहंस स्वामी संसार के विषयों से मन को मोड़कर भगवान के चरणों में लगा लिये उसी प्रकार मैं भी भगवद् प्रेम में ही अपना समय विताऊँगा।

बहुत काल तक श्रीस्वामी जी श्रीराजेन्द्रसूरि स्वामी जी महाराज की सेवा में लगे रहे। सम्वत् १९७२ वैशाख कृष्ण षष्ठी को श्रीराजेन्द्रसूरि जी महाराज वैकुण्ठ की यात्रा कर दिए। उन्हें महाप्रयाण के बाद शास्त्रविधि के अनुसार उनका श्राद्धकर्म सम्पन्न हुआ। उस समय भक्तों की अपार भीड़ थी। सरौती से भक्तगण भी तरेत गये हुए थे। श्रीस्वामी पराङ्कुशाचार्य जी महाराज परमहंस स्वामी के सभी कार्यों को सम्भालने के कारण अधिकारी स्वामी कहे जाते थे, सरौती में श्री परमहंस स्वामी के समय में ही श्रीराम, सीता और लक्ष्मणजी की मूर्ति स्थापित हुई थी। उसी स्थान का भार लेने के लिए सरौती के भक्तों ने श्रीस्वामी पराङ्कुशाचार्य जी महाराज से प्रार्थना की, श्रीस्वामी जी सच्चे विरक्त थे। वे किसी स्थान के महन्थ बनकर रहना नहीं चाहते थे। उन्होंने भगवान की उपासना करते हुए भगवद विमुख लोगों को भगवान से मिला देना एवं वर्णाश्रमधर्म का समुचित ज्ञान कराना अपना कर्त्तव्य समझते थे। अत: वे सरौती वाले भक्तों के आग्रह स्वीकार नहीं कर रहे थे; परन्तु भगवदिच्छा विशेष प्रबल होती है। श्रीस्वामी जी मोकामा के महन्थ जी से विशेष प्रेम करते थे। उन्होंने स्वामीजी से सरौती जाने का आग्रह किया। स्वामी जी ने उनके प्रेमवश यह कहते हुए कि मैं सरौती में स्थायी नहीं रह सकूँगा। मेरा श्रीवैष्णव धर्म तथा वर्णाश्रमधर्म का प्रचार-प्रसार ही मुख्य कार्य रहेगा। ऐसा कहकर श्रीस्वामी मोकामा महन्थ जी की बात मानकर सरौती के भक्तों पर कृपा करने के लिए सन् १९१६ में वहाँ आ गये। वे सरौती से चतुर्दिक जनता में घूम-घूमकर श्रीवैष्णवधर्म एवं वर्णाश्रमधर्म का प्रचार-प्रसार करने लगे।

परमविरक्त होने के कारण वे धर्म प्रचार में विशेष कष्ट होते हुए भी उसका परवाह नहीं करते थे। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि विषयी व्यक्ति जैसे आसक्त होकर कर्म करता है वैसे ही विरक्त विद्वान् भी जनकल्याण के लिए अनासक्त होकर कर्म करे—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम् ।।
(गीता ३.२५)

श्रीस्वामी जी महाराज का धर्म-प्रचार में सौविध्य की दृष्टि से अश्व वाहन था। वे उससे अहर्निश घूमकर धर्म का प्रचार करते थे। अश्व वाहन रखने में श्रीस्वामी जी एक कारण बताते थे कि एक बार तरेत में एक छोटा घोड़ा पर परमहंस स्वामीजी श्रीस्वामी जी की बाँह पकड़ कर चढ़ा दिये थे।

स्वामी जी अपने गुरु के आशीर्वाद मानकर घोड़ा को ही वाहन के रूप में रखते थे। सरौती में भगवान का मन्दिर मिट्टी का था। ग्रामीण भक्त उसके पीछे पड़ जाते थे। अत: श्रीस्वामी जी ने पाषाण एवं ईंट से एक मन्दिर उत्तराभिमुख तैयार कर उसमें सन् १९३० में भगवान श्रीराम को स्थापित कर दिये।

श्रीस्वामी जी महाराज ने विचार किया हमारा सनातन श्रीवैष्णव एवं वर्णाश्रम का यथार्थ ज्ञान संस्कृत ज्ञान के विना नहीं हो सकता। संस्कृत साहित्य ही सनातन धर्म का वाहन है। संस्कृत-भाषा के ज्ञान विना धर्म का रहस्य समझना कठिन है। अत: सन् ०२ जून १९२७ को उन्होंने खैरा उसरी में एक संस्कृत विद्यालय की स्थापना। उसमें व्याकरण, न्याय एवं साहित्य आदि के सुयोग्य विद्वान् नियुक्त हुए। सैकड़ों छात्र पढ़ने लगे। कुछ कारणवश कुछ काल के बाद विद्यलाय स्थगित कर दिया गया।

कुछ काल के उपरान्त स्वामी जी महाराज द्वारा सन् १९३९ ई० में सरौती में श्रीराम संस्कृत विद्यालय प्रारम्भ हुआ। वहाँ मिथिला के अनेक सुयोग्य विद्वान् रहकर छात्रों को व्याकरण, न्याय एवं साहित्य का ज्ञान कराकर आचार्य कराये।

सरौती विद्यालय चलता रहा उसी काम में विद्या का प्रधान केन्द्र समझकर वाराणसी में भी सन् १९६५ ई० में श्री वेङ्कटेश पराङ्कुश संस्कृत महाविद्यालय की स्थापना हुई। जो अभी भी सुचारु रूप से चल रहा है।

श्रीस्वामी जी ने जनहित की भावना से अनेक पुस्तकों की रचना की—(१) मर्यादा पुरुषोत्तम राम और हिंसा, (२) सीता-राम परिचय, और मानस शंका-समाधान (३) साम्प्रदायिक प्रश्नोत्तर, (४) ब्रह्ममेध संस्कार एवं नारायण वलि श्राद्ध पद्धति, (५) ध्रुव चरित्र, (६) प्रह्लाद चरित्र, (७) सुदामा चरित्र, (८) ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक धारण आवश्यक, (९) अर्चिरादिमार्ग का हिन्दी अनुवाद, (१०) अर्चागुणगान, (११) परमहंस स्वामी की जीवनी, (१२) राम नाम महिमा, (१३) एक नारायण ही उपास्य क्यों?, (१४) देवतान्तरों की उपासना क्यों नहीं? और (१५) श्रीरामरहस्य, (१६) सम्पत् में विपत् और दीनता में राम, (१७) भगवान क्यों हँसते हैं (अप्रकाशित)।

भारत के आठ स्थानों में भगवान स्वयं व्यक्त हैं। स्वयं व्यक्त का अर्थ है–प्रकट हो जाना। ***उत्तर भारत में***–१. पुष्कर, २. शालग्राम, ३. नैमिषारण्य और ४. बदरिकाश्रम। ***दक्षिण भारत में***–१. श्रीरङ्गम्, २. श्रीवेङ्कटाद्रि, ३. वाराह क्षेत्र (श्रीमुष्णम्) और ४. तोताद्रि।

आद्यप्रोक्तां स्वयंव्यक्तं विमानं रङ्गसंज्ञिकम्।
श्रीमुष्णं वेङ्कटाद्रि च शालग्रामं च नैमिषम्।।
तोताद्रिः पुष्करश्चैव नरनारायणाश्रमः।
अष्टौ मे मूर्तयः सन्ति स्वयं व्यक्तं महीतले।।

इन क्षेत्रों में श्रीरङ्गम सर्वप्रधान है; परन्तु कलौ वेङ्कटनायक के अनुसार कलियुग में वेङ्कटेश भगवान की प्रधानता मानी गयी है।

श्रीस्वामी जी महाराज को कलिनायक भगवान वेङ्कटेश के चरणों में अपूर्व प्रेम था। भगवान वेङ्कटेश उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन देते थे। स्वामीजी के अद्भुत कार्यों को देखने से हम भक्तों को यह अनुभव होता था कि श्री स्वामी जी पर भगवान वेङ्कटेश की प्रत्यक्ष कृपा है। श्रीस्वामी जी भगवान वेङ्कटेश के दर्शन के लिए तिरुपति प्रतिवर्ष जाते थे। भक्तों के विशेष कार्य के लिए उन्हें भगवान वेङ्कटेश के दर्शनार्थ भेजते रहते थे। जब श्रीस्वामी जी को वार्द्धक्य प्रभावित करने लगा तब उन्होंने

सन् १९७३ में भगवान वेङ्कटेश का दिव्य विग्रह सरौती में स्थापित किया और सभी भक्तों को सम्बोधित करके कहा कि जिन्हें वेङ्कटाद्रि जाना सम्भव नहीं हो वे सरौती में आकर भगवान वेङ्कटेश का दर्शन कर लेंगे, उनका मनोरथ पूर्ण हो जायेगा। श्रीस्वामी जी के वचन के फलस्वरूप आज भी सरौती में भगवान वेङ्कटेश का दर्शन करके लोग सफल मनोरथ हो रहे हैं।

श्रीस्वामी जी का निष्कामकर्म योग उपासना एवं तपोभूमि के रूप में सरौती स्थान प्रत्यक्ष है। वहाँ से श्रीस्वामी जी ने घूम-घूमकर अनेक प्रान्त, मण्डल एवं प्रमण्डल में लाखों श्रीवैष्णव शिष्य बनाया। उन्होंने हजारों विद्वान् तैयार कर देश की सेवा में लगाया, जो आज विभिन्न प्रान्तों में जनता की सेवा कर रहे हैं।

उन्हीं महापुरुष की निर्हेतु कृपा से सन् १९७९ में हुलासगंज जहानाबाद में श्रीस्वामी पराङ्कुशाचार्य संस्कृत विद्यालय की स्थापना हुई। तदनन्तर वहाँ श्रीलक्ष्मी-नारायण मन्दिर, आदर्श संस्कृत महाविद्यालय, मुद्राणायल एवं दातव्य औषधालय की स्थापना भी हुई। २६-०४-१९७७ को श्रीस्वामी जी महाराज भक्तों के प्रेमवश हुलासगंज में आ गये। उन्हें पूर्ण वार्द्धक्य प्रभावित कर दिया था; परन्तु ब्रह्म-चिन्तन की धारा उन में बराबर बनी रहती थी। वे बर्हिमुखी इन्द्रियों को अर्न्तमुखी बनाकर ब्रह्म-चिन्तन ही करते रहते थे। वे इस रूप में ३३ मास १५ दिन ब्रह्म-चिन्तन करते हुए हुलासगंज में रहे। सन् १९८० तदनुसार सम्वत् २०३६ फाल्गुन कृष्ण नवमी रविवार को पञ्चभौतिक शरीर त्यागकर वैकुण्ठ चले गये। उस यात्रा को ही महाप्रयाण कहते हैं। पूज्यपाद श्रीस्वामी जी महाराज हुलासगंज में जिस स्थान से वैकुण्ठ गये हैं, उस स्थान को उनकी स्मृति के रूप में सुरक्षित एवं अलङ्कृत कर दिया गया है। उस दिव्य स्थल का दर्शन कर भविष्य में भक्तगण पूज्यपाद श्रीस्वामी जी का स्मरण करते रहेंगे। यह स्थल महाप्रयाण स्थल के रूप में प्रस्तुत रहेगा।

●

भगवद दर्शन के लिए प्रार्थना

हमारे दीन जन पर कब, कृपा करके चितावोगे।
अपने दिव्य चरणों में, प्रभो अब कब लगावोगे।।१।।

सुना पावन विरद जब से, लगी है आसरा तब से।
अपाने योग अपने से, प्रभो अब कब बनायोगे।।२।।

सो पावन पाद कमलों को, तू मछुओं से धुलाये हो।
प्रभु वह दिव्य को कव दो, तु आकर के दिखाओगे।।३।।

अकिञ्चन दीन हो तुम्हरे, सदा से प्यारे लगते हैं।
हमारे अस जगत में ही, कहीं ढूढ़े न पावोगे।।४।।

कहाते दीन बन्धु हो, प्रणत जब पाल औ तैसे।
कहो यह नाथ अपने से, सुयश कैसे नशाओगे।।५।।

●

गृहारम्भ-मुहूर्त्त

१. वैशाख-शुक्ल-दशमी सोमवार दिनाङ्क २०-०५-२०१३ को दिन में ११:३० से १:४३ तक।
२. वैशाख-शुक्ल-द्वादशी बुधवार दिनाङ्क २२-०५-२०१३ को दिन में ११:२० से १:३३ तक (भूमिशयन परिहारपूर्वक)।
३. वैशाख-शुक्ल-त्रयोदशी गुरुवार दिनाङ्क २३-०५-२०१३ को दिन में ११:१६ से १:१९ तक।
४. वैशाख-शुक्ल-पूर्णिमा शनिवार दिनाङ्क २५-०५-२०१३ को दिन में ११:८ से १:२१ तक।

●

गृहप्रवेश-मुहूर्त्त

१. वैशाख-शुक्ल-दशमी सोमवार दिनाङ्क २०-०५-२०१३ को दिन में ११:३० से १:४३ तक।
२. वैशाख-शुक्ल-द्वादशी बुधवार दिनाङ्क २२-०५-२०१३ को दिन में ११:२० से १:३३ तक।
३. ज्येष्ठ-कृष्ण-दशमी सोमवार दिनाङ्क ०३-०६-२०१३ को रात्रि में ७:३२ से ९:३७ तक।

●

द्विरागमन-मुहूर्त्त

१. **पश्चिम से पूर्व नैर्ऋत्य से ईशान अग्नि से वायव्य कोण के लिए—**
वैशाख-कृष्ण-षष्ठी बुधवार दिनाङ्क ०१-०५-२०१३ को दिन में ८:१० से १०:२४ तक।
२. **पश्चिम से पूर्व के लिए—**
वैशाख-कृष्ण-सप्तमी गुरुवार दिनाङ्क ०२-०५-२०१३ को प्रात: ६:१२ से ६:३९ तक।
३. **दक्षिण से उत्तर नैर्ऋत्य से ईशान कोण—**
वैशाख-कृष्ण-द्वादशी सोमवार दिनाङ्क ०६-०५-२०१३ को प्रात: ६:०० से ७:५२ तक।

●

परमहंस श्रीस्वामी राजेन्द्रसूरि सेवाश्रम

(लोकनाथ महादेव रोड, आँख अस्पताल के बगल में)
ग्राम-शंकरपुर, पो०-खदीपास, जगन्नाथपुरी—(उड़ीसा)

भगवदानुरागी भक्तो!

श्रीपराङ्कुश संस्कृत संस्कृति संरक्षा परिषद् हुलासगंज द्वारा ***परमहंस स्वामी राजेन्द्रसूरि सेवा संस्थान*** की स्थापना जगन्नाथपुरी में पूज्यपाद ***अनन्तश्री विभूषित श्रीस्वामी रङ्गरामानुजाचार्य जी माहाराज*** द्वारा की जा चुकी है, जिसको भारत सरकार से ८० जी का प्रमाण-पत्र भी प्राप्त हो गया है। सेवा संस्थान में दान देने वाले भक्तों को अब सरकारी नियमानुसार आयकर में छूट भी प्राप्त हो सकेगी। संस्थान में अपने अथवा अपने माता-पिता के नाम पर कमरा बनवाने की व्यवस्था उपलब्ध है। अत: श्रद्धालु भक्त हुलासगंज से सम्पर्क कर सकते हैं।

●